डॉ० इन्द्रनाथ मदान

क्रम

खुशामद और खुशामद

खुशामद तरह-तरह की होती है, इसलिए खुशामद और खुशामद। यह बहुत पुरानी कला है, और इसका कथ्य-कथन या वस्तु शिल्प भी युगबोध के साथ बदलता रहा है। देवी-देवताओ से लेकर राजा-रानियां तक, भूमि पतियो-पूंजीपतियो से लेकर मन्त्रियो-अधिकारियो तक की खुशामद के ढग अपने अपने हैं। खुशामद, चापलूसी और चाटुकारी मे इसलिए अन्तर भी पाया जाता है। यदि चाटुकारी स्थूल है तो खुशामद सूक्ष्म और चापलूसी कही इनके बीच मे है। चाटुकारी से चाटने की ध्वनि निकलती है। चाटा तो चाट या भात भी जाता है, लेकिन इसे चाटुकारी नही कहते। चाटुकार उसे कहना अधिक सगत होगा जो मानव शरीर के किसी अग को चाटकर दूसरे को गुदगुदाना या खुश करना चाहता है, इसमे चूमना भी आ जाता है, *यदि चाटने की अवधि कम हो। कम समय के लिए चाटना चूमना कह*-लाता है। हाथ और चरण तक को चाटने-चूमने की विधियो का बखान है जिनका इस्तेमाल चाटुकार करता है। इस कला मे जैसे जसे विकास होता गया है वैसे-वैसे चाटुकार पहले चापलूस और फिर खुशामदी बनता गया है। हर समय उन्नति पाने के लिए खुशामद नही की जाती। नारी को पाने के लिए या उसे कायम रखने के लिए, अपना काम करवाने के लिए, कविता शाइरी सुनने के लिए भी यह काम मे आती है। इसे करवाना भी वह बेहतर जानता है जिसे यह करनी आती है। साधन साधना के बिना इस पर अधिकार पाना कठिन है।

एक खुशामदी वह है जो हर शहर का तोफा लाने मे माहिर है। इस बारे मे उसकी जानकारी विशाल है। उसे यह मालूम है कि इलाहाबाद का अमरूद होता है (अकबर को वह नही जानता), आगरा का भुजिया (ताज मे उसकी दिलचस्पी नही है), बनारस का लगडा (दशाश्वमेघ घाट से अभी उसका वास्ता नही पडा है), पठानकोट का मालटा (शहर के इतिहास से उसे क्या लेना है), नागपुर का सन्तरा (नाग-सस्कृति उसके

मतलब की नही है), लखनऊ का दशहरी आम (इस शहर की नफासत की उसे पहचान नही है), श्रीनगर शिमला का सेब (पहाडी दृश्यो म उसकी रुचि नही है)। इस तरह शहर शहर के खानपान की चीजो को वह पूरी तरह जानता है और घर खाली नही लौटता। यह जरूरी नही है कि चीज को उस शहर मे खरीदा जाए, अपने शहर मे भी इसे खरीदा जा सकता है, लेकिन डिब्बा टोकरी या लिफाफा उस शहर का होना चाहिए। वह यह भी जानता है कि पान बनारस का माना जाता है, जरदा मुघनी साहू का या किसी और का, लेकिन इनका इस्तेमाल करने वाले इने गिने होते हैं। अगर खुशामद करवाने वाले के यहा छोटी छोटी लडकिया हो तो वह जयपुर के गजरे लाना नही भूलता, लेकिन अब बडी बडी भी छोटी छोटी बनकर रहना चाहती हैं, दिल के शौक से शरीर के बुढापे को ढापना चाहती हैं। एक बूढे को जानता हू जो काले छाते के बजाय सतरगी छाता लेकर बाहर निकलता है। उस समय लगता है रगो की बहार फूलो से उठकर उसके छाते पर उतर रही है।

यह साधन वाला खुशामदी है, लेकिन एक और साधना वाला भी होता है। उस बेचारे के पास न तो बाहर जाने के लिए साधन हैं और न ही तोहफे खरीदने के लिए पैसा। उसे व्यक्तिगत परिश्रम से काम चलाना होता है बडे आदमी के परिवार का अग बनना होता है, उनसे भतीजे भानजे का नाता जोडना होता है। वह मौन भाव से सेवा करना जानता है। वह स्टेशन या बस स्टैण्ड पर लेने छोडने जा सकता है बिस्तर बाध सकता है, घर या दरबार म रोज हाजिरी लगा सकता है बीमार न पडने पर भी हाल चाल पूछ सकता है, बिना मिले उदास हो सकता है और मिलने का बहाना बना सकता है। अपने बडो के हसने पर बिना समझे उसे हसना होता है। कभी कभी अवसर मिलने पर उसे अपनी आखें भी गीली करनी होती हैं। आज राशन के जमाने मे चीनी, तेल, चावल आदि के बटोरने मे उसे कुशलता पानी होती है। वह यह नही चाहता कि इन कामो मे उसका रकीब हाथ डाले। इससे उसकी खुशामद मे अन्तर पडने का खतरा है। अपने रकीब से वह जलता है। अगर किसी तरह उसके पास कुछ पैसे जमा हो जाते हैं तो वह शबरी के बेर लाना नही भूलता। इस तरह वह साधन वाले खुशामदी का मुकाबला करना चाहता है। अगर वह शहर से बाहर है तो पत्र देने से यह काम चल सकता है। एक सम्पादक बता रहे थे कि अपना नया काम सभालने से पहले ही साधन-हीन खुशामदियो ने यह लिखना शुरू कर दिया कि पत्रिका का स्तर उनके आने से काफी उठ गया है और सम्पादक ने भी इन होनहार लेखको की सूची तयार करवा ली थी। खुशा

मद करवाने का शौक इससे करने से कम नहीं होता। मेरे एक मित्र (दोस्त नहीं) अपने चरणों को हाथ लगवाने तक चरण-वन्दना को सीमित रखना चाहते हैं। वह वन्दना करने वाले का अनायास अपना चरण आगे बढ़ा देते हैं, ताकि उसे अधिक झुकने से कष्ट न हो। एक दोस्त हैं जो मेरे दरबार में खुशामद करवाना इसलिए चाहते हैं कि अकेले में यह फीकी लगती है। इसे करने के लिए सतीफे सुनाने होते हैं, कहानियां गढ़नी पड़ती है और बाद में कभी-कभी चुगली भी करनी पड़ती है। इनका यकीन तोहफा पाने में कम है तारीफ करवाने में अधिक। तोहफा खुशामद का ठोस रूप है और तारीफ तरल। इस होड़ में साधना करने वाला साधन पाने से जीत भी जाता है।

एक बात निश्चित है कि खुशामद कभी निष्काम नहीं होती, उसे चाहे कितना कलात्मक रूप क्यों न दिया जाए। यह कभी सिफारिशी चिट्ठी लिखवाने के लिए है तो कभी नौकरी पाने के लिए, कभी उन्नति पाने के लिए तो कभी अपनी रचना छपवाने के लिए कभी एजेन्सी हासिल करने के लिए तो कभी ठेका, कभी इश्क में कामयाब होने के लिए तो कभी परीक्षा में, कभी किसी की आंखों में बसने के लिए तो कभी किसी को अपनी आंखों में बसाने के लिए। एक पति को मैंने रात के दस बजे बाजार में बरफी खरीदते पकड़ा तो वह फरमाने लगे कि देरी से घर पहुंचने पर जब देरी से पत्नी दरवाजा खोलती है तो एक लिफाफा खुशामद के तौर पर उसके हाथ में देने से उसका तापमान कम हो जाता है।

मैं खुशामद के बारे में बात इसलिए कर रहा हूं कि इसमें अनुभव और समय दोनों का सच है। खुशामद करने का मेरा तरीका बड़ा बारीक और महीन रहा है अपने मतलब की कभी भिनक नहीं पड़ने दी। अपने स्वभाव को खुशामद कराने वाले के अनुकूल ढालने की कोशिश की है। अगर वह इससे भी खुश नहीं हुआ तो उसे गाली दी है जो उसे पहुंचती भी रही है। उसके परिवार का अभिन्न अंग भी बनने की पूरी कोशिश की है और परिवार के अभाव में उसके जीवन का अन्तरंग तो जरूर बन गया हूं। इस तरह खुशामद करने में मेरी न किसी से दोस्ती रही है और न ही दुश्मनी, मेरा पावन सम्बन्ध शुद्ध स्वार्थ से रहा है। एक कवि के शब्दों में खुशामद से उन्नति के सब रास्ते खुल तो जाते हैं, लेकिन उन्नति के सिवा और सब बन्द हो जाते हैं। इसलिए मैं खुशामद करवाना नहीं चाहता। एक तो मेरी तरह किसी को यह करनी नहीं आती। मोटे और भोंडे तरीके से खुश करने की कोशिश की जाती है जिसे मैं चापलूसी कहता हूं। चाटुकारी का तो सवाल ही नहीं उठता।

विदा-अलविदा

यह सिलसिला एक अरसे से जारी है। देश की आजादी के बाद लाहौर छोडना पडा था जो अपनी महबूबा से विदा लेने की तरह था, जिसके हसीन चेहरे को अब तक भूल नही पाया हू। सपनो मे यह कभी-कभी ताजा हो जाता है और खतो पर भूलकर इसका नाम लिख जाता हू। लाहौर से बिछुडकर एक साल दिल्ली की सडको की खाक छाननी पडी इस अजनबी शहर से विदा होकर शिमला पहुचा जिसकी याद इसकी बरसाती धुध की तरह अब धुधलाने लगी है। मेरा वहा जाना और बरफीली ठण्ड म जम जाना एक सैलानी का सैर के लिए जाना नही था, एक उखडे हुए आदमी का था जो देश के विभाजन के बाद रोजी कमाने के लिए वहा पटका गया था। मेरे लिए शिमला की याद एक शहर की न होकर उसके एक टुकडे की है जिसे पहले माल रोड कहते थे, लेकिन अब जिसका नाम डाकखान मे तो लाजपतराय रोड है पर लोगो की जुबा पर माल रोड ही चढा हुआ है। यह टुकडा शाम को चहकने लगता था। जहा रग बिरगी साडियो और सूटो मे युवतियो, अधेडो और बूढियो तक को इठलाते, मुस कराते हसते देखकर दिन भर की थकान दूर हो जाती थी। गर्मिया म आमतौर पर रोज पानी पडता था, लेकिन पता नही क्यों यह शाम को बाकायदा बन्द हो जाता था। इन्द्र भगवान यह नही चाहते थे कि दिन भर साडिया सूटो को प्रेस करती युवतियो और बूढियो को माल रोड पर अपनी रगीनी दिखाने का अवसर हाथ से सरक जाए। इसे देखकर मेरा नास्तिक मन भी आस्तिक बनन पर लाचार हो जाता था।

इस शहर को भी अलविदा कहना पडा और एक खानाबदोश की तरह अपना डेरा जालधर शहर में लगाना पडा जो दस साल तक जमा रहा। इस बदरग शहर मे शिमला की रगीनी सताने लगी, लकिन विदा-अल विदा के सिलसिल का आदी होना पडा ताकि तकलीफ कम हो। मेरा एक अजीज एक ही शहर में रहते रहते इतना बोर होन लगता था कि वह दो

तीन साल के बाद उसे छोड़ने पर मजबूर हो जाता था और अगर इसे छोड़ नही पाता था तो कम-से-कम किराये के मकान बदलता रहता था। यह उसी तरह जिस तरह अमीर लोग हर साल अपनी कार बदल लेते है या अमरीकी अपनी बीबी बदल लेते है। वह साहित्यकारी करता था और शहर-मकान बदलने से अपनी कृतियो मे ताजगी लाना चाहता था। मैं न तो साहित्यकार हू और न ही मेरे पाव मे चक्कर है। इसलिए मैं जालधर के एक नामी ज्योतिषी से सलाह लेने गया कि किस तरह मैं इस नीरस शहर मे कायम रह सकता हू। उसने मुझे अनुष्ठान करवाने का मशविरा दिया जिस पर चार सौ रुपये की लागत आ गयी, लेकिन फिर भी इस शहर मे देर तक न जम सका और इससे विदा लेकर चण्डीगढ आ गया। यह नगरी एक कलाकार की देन है। एक शाहजहा का सपना था जो ताज-महल मे साकार हुआ और एक कारबूजिया का जो चण्डीगढ़ मे पूरा हुआ। इसलिए कारबूजिया इसके बाद चल बसे। यह जवाहरलाल की की लाडली नगरी है जिसके नखरे एक हसीना की तरह है, लेकिन मुझे यह एक ठप्पेदार शहर लगता है जिसमे जिन्दगी साचो मे ढली हुई है। एक बार इस शहर के बारे मे एक महानगरी से लाया गया नौकर मेरे नौकर से बतिया रहा था और पूछ रहा था—चुन्नी, यहा तो एक तरह के मकान ही मकान है, शहर कहा है। उसका मतलब रौनक से था। इसके बाद वह नजर नही आया, इस शहर को अलविदा कहना असम्भव है, जिन्दगी से विदा लेकर ही इससे अलविदा ली जा सकती है।

जब मुझे यूनिवर्सिटी की नौकरी से विदा मिली थी तो उस समय लगा था कि मेरा विमोचन किया गया है। हिन्दू जाति से मेरा नाता गहरा रहा है जिसके तीन बडे सस्कार माने जाते हैं—अभिनन्दन, उद्घाटन और विमोचन पजाब सरकार ने बहुत साल पहले एक साहित्यकार के नाते, जो मैं नही था, मेरा अभिनन्दन कर दिया था। यह मेरे यारो को इतना बुरा लगा था कि इन्होने थाने मे रपट लिखवा दी थी कि मैं लेखक नही हू। इस तरह मेरा उद्घाटन भी हो गया था। एक सस्कार रह गया था—विमोचन और यह पजाब यूनिवर्सिटी ने पूरा कर दिया था जब मुझे इससे विदा लेनी पडी थी। उस समय मैं लोगो के मशविरो से बुरी तरह घिर गया था। एक ने मुझे वाराणसी से यह सलाह दी कि मुझे गगा स्नान करना चाहिए। इससे एक तो वक्त कटी हो जाएगी और दूसरे मेरे पाप धुल जायेंगे। यह मैं जानता था कि इस देश मे गगा तस्करो और नेताओ के लिए बहती है। यहा गगा जल या गोमूत्र से शुद्धि हो सकती है, लेकिन मैंने नल के पानी से नहाना बेहतर समझा है। बैकुण्ठ के बजाय नरक मे जाना बेहतर माना है

जहा रौनक तो होती है। जहा तक अपने सूनपन या खालीपन का भरन का सवाल था मैंन एक जवान लडकी को अपनी बटी बना लिया, लकिन हाल मे इसस भी विदा लनी पडी। इस तरह विदा-अलविदा का चक्कर चलता रहा।

अब मेरे एक दोस्त न सलाह दी है कि खाली बैठन से चुनाव लडने का शगल क्या बुरा है। मैं उससे पूरी तरह सहमत हू। मेरे मित्र को यह भी नही पता है कि मैं इस शौक का तीन बार पूरा कर चुका हू—दो बार जीतकर और एक बार हारकर। इसक बाद मैंन चुनावा स भी विदा ले ली। इसका कारण यह था कि और लोगा क बिस्तर बाध-बाधकर इनका मन्त्रियो उपमन्त्रियो की गाडियो म सवार करता रहा हू और खुद प्लटफारम पर खडा इन्तजार करता हू। अगर मर सितारो म यही लिखा है तो चुनावा का अलविदा कहना और घर पर आराम करना बहतर है। यह मैं जानता हू कि नतागीरी की गरमी धन की गरमी स कम नही हाती, लकिन अब अपन को गरमान का मौसम नही रहा। अब ता एक एक वस्तु या व्यक्ति से विदा लने का अवसर आ गया है। खुदा खर कर।

अपन मकान क तकरीबन हर कमर म किताबा क अबार लग गए है। इनसे विदा लना बाकी रह गया है। यह किस तरह और क्या लग गए है, इसकी एक लम्बी दास्तान है। अधिकाश पुस्तक मुझे मुफ्त मिली है। यह इसलिए कि मैं हिदी विभाग का अध्यक्ष रहा हू और लखक मरी राय जानन के लिए इन्ह, लगवान क लिए या इनकी तारीफ करवान के लिए विकल रहे है जो मैं नही कर सका हू। कुछ पुस्तकें मैंन खरीदी भी है जा हिदी परम्परा के विपरीत है। यह इसलिए कि मैंने अपनी लियाकत की धाक जमानी चाही है जा बेकार साबित हुई है। मैंन इन्ह पढने म काफी समय बरबाद किया है जबकि योग्यता की छाप अकित करने के लिए पुस्तको का पढना इतना आवश्यक नही है जितना इनका केवल परिचय देखकर इनके बारे मे राय देना। कभी-कभी जवान और हसीन लडकिया इनका इस्तेमाल करती रही है और इनके साथ आन वाली नमकीन और सावली भी लाभ उठाती रही हैं, लेकिन रिटायर होन के बाद इनका आना बद हो गया है और किताबो पर इतनी धूल जम गयी है कि इनसे विदा लना आवश्यक हो गया है। अगर किसी कबाडी का बचता हू ता मन को ठेस लगती है और अगर किसी लायब्रेरी को सौपता हू ता इनके फटन और गायब होने का भय खाता है। अगर अलमारियो मे पडी रहती है ता एक दिन इनको दीमक चाट जाएगी। अब पुस्तको म उलझने का युग भी बीत गया है। इस तरह इनसे विदा लेने का सवाल टेढा और पचीदा होता

जा रहा है। यह सही है कि इन्सान मेरा साथ दिया है, लेकिन अगर इनको अलविदा कहने के लिए अपना दिल मजबूत नही करता हू तो यह मेरी कमजोरी का रोशन करेगा। मुझे लगा है कि मैं अपनी बेटी से विदा ले सकता हू तो इन किताबा से क्यो नही ? आखिर चीजो से छुटकारा पाना इतना मुश्किल नही हाता, लकिन पुस्तक मेरे लिए वस्तु नही व्यक्ति है।

इस मूड मे एक दिन मैं अपन पुरान कागजा को उलट पुलट रहा था और इनसे विदा भी लेने की सोच रहा था। एक पुरानी फाइल को खाला और देखा कि कुछ लख किताब का रूप धारण करने से रह गए हैं। एक सपरे की तरह मैं बीन बजा रहा था और एक एक करके साप पुरानी पिटारी से अपना अपना मुह उठा रह थे और बाहर आन को उतावल हो रह थे। इन लेखो को छपवान से मैं इसलिए कतरा रहा था कि लोग इनके बारे मे क्या कहेगे और मेरे बारे म क्या सोचेंगे। मेरे मित्र ने विश्वास दिलाया कि अगर इतना कूडा छप रहा है तो मेरा सकोच निराधार है। इनको लेकर न नौकरी पानी है और न ही हिन्दी साहित्य में अपना नाम लिखवाना है। इन्हे छपवान का मैंन इरादा तो कर लिया, लेकिन किस नाम से यह तय करना मुश्किल हो गया। इस भानुमति क पिटारे को एक नाम से पुकारने की समस्या ने इरादे का टाल दिया। लेख पिटारे से बाहर निकलने की बाट जोहते रहे, लेकिन मैंन इन्ह उसमे बन्द कर दिया। एक अरसे के बाद उसी मित्र ने मुझे सुझाया कि नाम खूबसूरत होना चाहिए। सन्तान जितनी कुरूप होती हैं उसे उतना ही सरूप नाम दिया जाता है, किताब जितनी नीरस हाती है उसे नाम उतना ही सरस देना पडता है। यह बिक भी उसी तरह जाती है जिस तरह सरूप नाम की लडकी की शादी अपने नाम की वजह से हो जाती है। पहले असर नाम का पडता है, बाद मे रूप का। नाम ता रह जाता है, लेकिन रूप ढल जाता है। इन ललित निबन्धो को कब तक कैद मे रख सकता हू ! जब इनसे विदा लेनी पडती है तो इस सकलन को विदा-अलविदा नाम से छपवाया जाए ! गालिब की जबानी—

> रज से खूगर हुआ इसा, तो मिट जाता है रज
> मुश्किलें मुझ पर पडी इतनी, कि आसा हो गईं।

उपहार और पुरस्कार

उपहार बेहतर होता है या पुरस्कार—यह बताना तो कठिन है, लेकिन इतना कहना शायद आसान है कि इनके बिना जिंदगी फीकी पडने लगती है, खाली होने लगती है और कभी-कभी ठहर जाने का भी अहसास देने लगती है। यह उपहार-पुरस्कार पाने और देने वाले दोनो के बारे मे सही है। यह बताना भी मुश्किल है कि इनका लेना बेहतर है या देना, लेकिन इतना कह सकता हू कि बचपन मे मुझे इनके लेने का शौक था और अब इनके देने का हो गया है। इस तरह बचपन से बुढापे तक इनका मेल चलता है, जन्म से मरण तक और इस देश म मरने के बाद भी इनका सिलसिला जारी रहता है। उपहार और पुरस्कार मे अन्तर भी पाया जाता है जो पहले इतना तीखा नही था। उपहार निजी होता है, इसमे स्नेह होता है या स्नेह का दिखावा होता है, पुरस्कार समाजी होता है। इसम सराहना होती है या सराहना का दिखावा होता है। इनका आपस मे कभी-कभी घुलमिल जाना भी होता है। महारानी एलिजाबेथ अभी राजकुमारी थी, उसकी मगनी राजकुमार फिलिप्स से होने वाली थी। भारत से निजाम ने राजकुमारी को उपहार मे एक रत्न माला भेजी जो शायद लाखो की थी। वाइसराय माउटबेटन ने महात्मा गाधी को सुझाव दिया कि वह भी राजकुमारी का एक उपहार भेजने पर विचार करें। आगाखा के महल म नजरबन्द गाधी जी के पास देने को कुछ नही था। केवल स्नेह स उपहार नही बनता। उपहार ठोस होता है स्नेह तरल होता है। वाइसराय भी हाजिर जवाब थे। तुरत सुझाव दिया कि अपनी तकली पर काते सूत का बुना कपडा तो गाधीजी भेज ही सकते है। उन्होने खादी का एक टुकडा उपहार मे यह लिखकर भेज दिया—"इस ताज को साथ ओढा जा सकता है रत्न-माला से यह शायद अधिक कीमती है।" यह उपहार था लेकिन रवीन्द्रनाथ ठाकुर या हरगोविन्द खुराना को स्वीडन के बादशाह ने जो इनाम दिया है वह पुरस्कार है। इसकी वजह

से एक महाकवि बन गया और दूसरा बडा साइन्सदा माना गया है पुरस्कार से सराहना की मोहर लग जाती है और उपहार से स्नेह की गोद का काम लिया जाता है।

इनका चलन आज ही नही है, आदिम युग मे भी होगा जिसका सबूत तो नही मिलता, लेकिन जिसकी कल्पना की जा सकती है। युग चाहे पत्थर का हो या धातु का, आमिष का हो निरामिष का, सामरस का हो या भाग का, कॉफी का हो या चाय का, वैदिक हो या सामन्ती, पूजीवाद का हो या समाजवाद का, उपहारो और पुरस्कारो का सिलसिला बन्द कभी नही हुआ। तरह-तरह के उपहार और किसम किसम के पुरस्कार—कभी वस्तु तो कभी व्यक्ति, कभी हैवान तो कभी इन्सान, कभी गाय और घोडा तो कभी नारी और दास। इसकी सूची तैयार करना शोध का काम और परिणाम होगा, लेकिन एक महिला को जानता हू जो आज तक के अपने सब उपहारो को सभाले बैठी है। साल मे दो-तीन बार जब वह निपट अकेली महसूस करने लगती है तो उपहारो के बक्स को खोल बैठती है। एक एक को उठा-उठा कर हसरत भरी निगाह से देखती है और इस तरह अपने अतीत को ताजा कर लेती है। इनमे एक कमीज का रेशमी टुकडा है जो अनसिला रह गया है, एक गरम कोट है जिसका फैशन बदल गया है एक स्वेटर है जिसे कीडा लग गया है रेशमी रूमाल हैं जिनके तार निकल आए हैं, मनका की तीन मालाए हैं जिनका पहनने का आज रिवाज नही रहा। लडकियो को किताबो का तोफा देना इनके हुस्न की तौहीन करना है। उसके पास बचपन के उपहार भी अभी तक कायम हैं। गुडिया का अबार इसकी याद दिलाता है कि बचपन एक बार बीत कर लौटने वाला नही है। इनसे घिर कर वह बैठ जाती है और इनमे इतना डूब जाती है कि खाना लेना भी याद नही रहता। अब गुडियो का क्या करे? एक बार उसके साथियो ने उसे गुडियो से खेलते पकड लिया और उस पर आत्मरति का आरोप लगा दिया। इस तरह उपहारो के ढेर को देख-देख कर वह अपने बचपन और जवानी को ताजा कर लेती है। इनके बाद उपहार तो मन्त्रियो या अफसरो की बीवियो को ही मिल सकते हैं जो बुढापे से इन्कार करती हैं।

इसी तरह एक आदमी को जानता हू जिसने पुरस्कार हासिल किए ह और जिन्हे दिखाने का उसे बेहद शौक है। उपहार आमतौर पर देखने और पुरस्कार दिखाने होते हैं। उसकी बैठक मे आठ-दस चादी के कप ह जो मेटलपीस पर सजे होते हैं, किताबें हैं जो एक काने की शेल्फ म करीने से रखी रहती हैं एक बडा चादी का थाल है जो छोटी मेजपर धरा रहता

है, एक फोटो है जो दीवार मे लटकी रहती है। सब कुछ बैठक मे रखा गया है ताकि देखने वाले को तकलीफ न उठानी पड़े। चादी के कप खेल के पुरस्कार हैं, किताब परीक्षा के, चांदी का थाल और फोटो अभिनन्दन करवाने का। चादी के थाल पर उसने अपना नाम खुदवा रखा है ताकि यह कही घर के सामान मे मिल कर अपनी हस्ती न खो बैठे, फोटो पर अभिनन्दन की तारीख छपवा रखी है ताकि कही ऐतिहासिक बोध न मिट जाए। इस पर उसका काफी धन लग चुका है। उसके पास एक कीमती दाशाला भी है जो उसने पुरस्कार मे पाया है और जिस पर इस पुरस्कार का नाम भी कढ़वा रखा है। इनको दिखाने के लिए वह कभी चाय की दावत देता है तो कभी खाने की। इन अवसरो पर बेल की बात की तरह बात से बात वह इस तरह निकाल लेता है कि आखिरी तान उसके पुरस्कारो पर टूटती है। उस समय बताना पड़ जाता है कि एक एक पुरस्कार कैसा और कब मिला था। उसे यह भी याद है कि पाचवी जमात से लेकर सोलहवी जमात तक हर मजमून मे उसने कितने नम्बर हासिल किए थे। इम्तिहान मे इतने नम्बर पाना भी शायद अक्ल का इतना सबूत नही होता जितना याददाश्त का करिश्मा होता है। इस आदमी को एक अफसोस भी रह गया है—न तो बेटा बाप पर गया है और न ही बेटी। इन पुरस्कारो को सभाल कर रखने का उन पर असर नही हुआ है। यह सब कुछ बेकार साबित हुआ है, लेकिन यह सब कुछ बढ़िया चाय पीकर और लजीज खाना खा कर सुनना अवश्य पड़ता है, ताकि चाय और खाना बेकार न हो जाए।

आज उपहार और पुरस्कार मे अन्तर जितना तीखा हो गया है उतना पहले नही था। लडकी को जब दहेज के साथ दिया जाता है तो लडकी का तो नही लेकिन दहेज को देखा भी जाता था और दिखाया भी। वह उपहार भी था और पुरस्कार भी। घर की नाईन दहेज की एक-एक चीज को पुकार-पुकार कर कहती थी—इक्कीस तोले सोना, इकतीस जोड़े कपड़ा के, इकतालिस बरतन, ग्यारह परादे, एक जोडी जूता, एक हजार एक की नकदी। एक का हर चीज से जोडना शुभ माना जाता था ताकि सिलसिला जारी रहे जो अन्त मे सिफर लगाने से बन्द हो जाता है।

मुझे याद है कि हमारे दादा गाव से जब कस्बे का जाया करते थे तो सबके लिए वह उपहार लाया करते थे—पाच थान कपडो के, बीस-तीस जोड़े जूतो के, पेंसिलें, कलमे और घर का सामान। सबके लिए हिसाब से एक तरह की कमीजें, पायजामे या शलवारें सिलने लग जाती थीं, अस्पताल या फौज की तरह वरदियां बनने लगती थी। जूता जो जिसके फिट

आ जाता था उस पर अपना कब्जा जमा लेता था। अगर वह तग भी होता था तो इसकी शिकायत करना घाटे का सौदा था, इसके छिन जाने का भय था। बाद में वह खुल भी जाता था। न रंग का सवाल था और न ही फैशन का, उपहार पाने से मतलब होता था।

आज छोटे से-छोटे लड़के और छोटी-से-छोटी लड़की की भी अपनी-अपनी पसन्द होती है। उसे फैशन और शेड का पता लग गया है सिनेमा देखती है, स्कूल जाती है। आज के बाबा को उपहार लाते समय बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है, उसके सांवले या गोरे रंग के लिए सही शेड का कपड़ा चुनना पड़ता है और कभी-कभी उसके लौटाने का दुकानदार से वायदा भी लेना पड़ता है। यह भी याद रखना पड़ता है कि उसके पास किस किस शेड की कमीजें पहले से हैं। आज संतोष का युग बीत गया है और विकास के लिए असंतोष को गहराना जरूरी हो गया है। अपनी-अपनी पसन्द के बढ़ जाने से और बाबा की याददाश्त कमजोर पड़ने पर उपहार देने-लेने के बजाय उपहार के लिए नकदी देने और पाने का रिवाज जोर पकड़ने लगा है। अब तो बाबा का काम शायद आटा-दाल, भाजी-तरकारी, नमक-तेल लाने तक सीमित हो जाएगा। राशन के जमाने में एक नहीं अनेक इन कामों के लिए दरकार हैं। इसलिए शायद परिवार नियोजन की बात लोगों के गले से नीचे नहीं उतर रही है। ●

पुराने खत

अगर बरसात की किसी लम्बी और उदास शाम को बाहर निकलना दूभर हो जाए और न ही बाहर से किसी के टपकने की आस रह जाए तो शाम भारी पडने लगती है। एक भरे-पूरे परिवार मे इसे बिताने के अनेक साधन जुटाये जा सकते है। अगर खान पान आजकल महगा हो रहा है तो बहस करने या ताश खेलने मे कुछ मोल नही लगता। मेरे पिता इस तरह की शाम को घर के बक्सो को खोल बैठते थे और पुरानी चीजो को नयी तरतीब देकर इसे बिता लेते थे। मेरे पास पुरानी चीजो की कमी तो हो सकती है, लेकिन पुराने कागजो की नही जिनको नई तरतीब दी जा सकती है। एक बार इन कागजो का उलटते पुलटते पुराने खतो का एक बडा बण्डल हाथ लग गया। इसे देखकर मेरा हैरान होना स्वाभाविक था। आमतौर पर जवाब देते ही खतो को फाडने की आदत मैंने डाल रखी है ताकि जिन्दगी कही और बोझिल न हो जाए और रहने की छोटी-सी जगह कही और छोटी न बन जाए। इन खतो के आधार पर न तो मैंने अपनी दास्तान लिखनी है और न ही किसी को मेरी। इसके बल पर साहित्यकारो ने अपना नाम भी नही लिखवाना है जिसकी तैयारी होनहार लेखक पहले से ही करने लगते हैं। वे अपने खतो की नकलें भी सभालकर रखते है। मुझे पता नहीं चल रहा था कि पुराने खतो का बण्डल रद्दी की टोकरी मे जाने से किस तरह बच गया। इसलिए एक एक चरमराते खत पर सरसरी निगाह डालना आवश्यक हो गया।

इन खतो को देखने मे मैं इतना उलझ गया, मन अतीत मे इतना डूब गया कि बरसात की शाम का एहसास ही नही रहा। एक बार अतीत जब जीवन पर हावी हो जाता है तो इससे उबरना मुश्किल पड़ जाता है और विशेषकर भारतीय जीवन पर जब यह छा जाता है तो हर सकट मे इसका सहारा लेना पडता है। इस बण्डल या भानुमती के पिटारे मे हर तरह के पत्र थे—कुछ बड़े, कुछ सफेद कागज पर और कुछ रगीन कागज पर, कुछ

टकित और कुछ हस्तलिखित, कुछ पोस्टकार्ड और कुछ लिफाफे जिनका मजबून वाहर से ही भाप लिया जाता है। इनमे कुछ मित्रो के तकाजे थे और कुछ अमित्रो की खरी खोटी बातें, कुछ गिले थे और कुछ शिकायतें, कुछ परिचितो की फरमाइशें थी और कुछ बडो के मशवरे, कुछ नौकरी पाने के पत्र थे और कुछ इसे खोने के। इस बण्डल का अधिकाश नये सालो और दीवालियो की मुबारका से भी भरा हुआ था जिनको हर साल दोहराया जाता है। लडका ने सस्ते मे काम चला लिया था और लडकिया न महगे म। अगर काड महगा हो तो मुबारिक वजनदार होती है और नाम या पता करीने से लिखा जाए तो यह स्नेह-सराहना का भी सूचक होती है। मुझे यह भी लगा कि हर साल इनकी तादाद बढती रही है। एक बडे लिफाफे मे थोडे से पत्र थे। इनको अलगाने का कारण पहले तो समय म नही आया लेकिन बाद म पता चला कि इनमे आत्मीयता का स्वर है। एक ने लिखा था, "आप उस व्यक्ति को जानते हैं जिससे मैं शादी करना चाहता हू। उसकी मा की अनुमति दरकार है जिसे आप दिलवा सकते है।" एक और का कहना था, "मेरे मा-बाप ने मेरी मगनी अनजाने लडके से कर दी है जिसे आप चाहें तो तुडवा सकते हैं।" एक तीसरे ने अपनी पत्नी से तलाक लेने मे मेरी सहायता गवाही के तौर पर मागी थी। यह वही मित्र था जिसकी शादी के समय मैंने गवाह के रूप मे दस्तखत किए थे और पत्नी को लेकर वह मोर की तरह कचहरी से निकला था। इस तरह कुछ पत्रो म दोस्ता के उधार मागने की बात थी। इन खता पर अगर रसीदी टिकट भी लगी होती तो इनको सभाल कर रखना बेकार था। उधार चुकाने की कानूनी अवधि भी बीत चुकी थी। इनको सुरक्षित रखना उन तग जूतो और छोटे कोटा की तरह था जिनको पहनने वाला मेरा छोटा भाई अब बडा हो चुका था। उसका यह गिला अब तक कायम है कि उसे बचपन और जवानी मे न तो नया कोट पहनने को मिला और न ही नया जूता। इसका दोषी वह मुझे यह कह कर ठहराता है कि मैं उससे पहले पैदा क्यो हो गया। वह यह भूल जाता है कि घर मे साधन भी सीमित थे। इस तरह के आत्मीय खतो को देखकर मुझे यह वहम होने लगा कि मैं भी विश्वास का पात्र बन सकता हू, मैं भी राज की बात पेट मे रख सकता हू। यह वहम अधिक समय तक कायम न रह सका। अगले पत्र में मेरे एक मित्र ने मुझ पर यह आरोप लगाया था कि मैंने उसके रहस्य को खोल दिया है। उसके इश्क की बात मुश्क की तरह फल गई है और लडकी ने समाज के डर के कारण इन्कार कर दिया है। उसके विश्वास का मैं पात्र नही रहा। उसका इश्क भी मिरजा गालिब के अन्दाज

म मुझे दिमाग का खलल लगा। इस बण्डल म कुछ खत बडे-बडे आदमियो के भी थे। इनको सभालने की वजह शायद यह हो सकती थी कि इनको दिखाने से ही आदमी बडा बन सकता है। यह क्या मालूम था कि बडा होना मितारो का खेल है। एक बडे आदमी ने यहा तक लिख दिया था— मुझे यह मालूम न था कि विपत्ति मे तुम मेरी सम्पत्ति भी बन सकते हो।" इसम न तो उक्ति का चमत्कार था और न ही सूक्ति की रचना। इसे पढकर सन्तोष की पूरी सास भी नही ले पाया था कि अगले अनाम पत्र न इसे बीच मे ही रोक दिया। इसमे मुझ पर 'चरित्रहीन' हान का आरोप लगाया गया था।

इन मिश्रित पत्रो को दोबारा पढने से मुझे यह सन्देह होने लगा कि किसी के बारे मे सत्य को पाया भी जा सकता है या नही। अपने बारे म धारणाए जब इतनी गलत हो सकती है तो औरो के बारे मे इनका सही होना कितना कठिन है। अगर गिरिजा कुमार माथुर की तरह मैं कवि होता तो मैं भी खत पर इससे लम्बी रचना कर सकता था। मैं भी इसे नये जमाने का मेघदूत या दमयन्ती मिलन को पास लाने का हस अगर न बना सकता तो कव्वा कहने का साहस अवश्य बटोर सकता था जो पुराने जमाने मे भी मुडेर पर काय-काय करके अतिथि के टपकने की सूचना देता था। मेरे लिए य खत अगर नया आलोक लाने वाले या साबित जिन्दगी का आइना बनने का साधन नही रह तो बोरियत को गहरान वाले अवश्य थे। इनमे रोज की जिन्दगी थी जो इसकी निरथकता को साबित करती थी। आज भी उसी तरह के खत आते रहत ह। हर खम का जवाब देना लाजमी है ताकि मुझे कही बडा होन का वहम न हो जाए। इनमे कभी-कभी चेक भी होता है जिसे बाहर से ही भाप लेता हू, लिफाफे से ही मजबून का पता चल जाता है।

आज के और पुरान पत्रो म थोडा अन्तर भी आ गया है। अब खत छोट होत जा रह है इनमे सब तरह के हाल हवाल नही होते, अडोस-पडोस के किस्से नही होते, मौसम का हाल भी गायब होता है, सुख दुख की बात भी विस्तार से नहीं होती, सुबह से शाम तक की जिन्दगी का विवरण भी नही होता, इधर उधर के मगनी विवाह की सूचना भी नही होती—यानी व्यक्तिगत और आत्मीय ध्वनि नही होती। अगर कही से लम्बा खत आ जाता है तो इसमे राजनीतिक या साहित्यिक बहस होती है, किसी को गिराने-उठाने की बात होती है, तिकडम की गन्ध और निन्दा का रस होता है। इस पढकर जी मे आता है कि 'तू भी बदल फलक जमाना बदल गया है' मशीन का युग आ गया है। अब पत्र के लिए पत्र

नही लिखा जाता, इस कला का लोप हो गया है। लेकिन मेरे नौकर के पास अब घर से खत आता है तो इसे बाचकर पुराना युग बीता हुआ नही लगता। इसम कभी बैल के अचानक मर जाने की सूचना होती है, कभी गाव के किसी व्यक्ति के चल बसने का समाचार और कभी सन्तान के पैदा होने का। लेकिन शहर मे अगर पड़ोसी की मौत हो जाए तो इसका असर पत्र-लेखन पर नही पड़ता, इसका समाचारपत्र म देना आवश्यक नही लगता। इसके असर म आकर मैं कभी-कभी सोचने लगता हू कि मेरे बाद मेरा लटर-बॉक्स कौन खोलेगा। अगर यह खुल भी गया तो हर खत का जवाब कौन देगा जिसकी आदत मैंने डाल रखी है। •

उकता गया हू

दुनिया की महफ्लि से उक्ताकर अपना जी बहलान के लिए मैं पुस्तको की सभा मे चला आया। इनम बोर करने वाला की तादाद हि दुस्तान की आबादी की तरह दिन पर दिन बढती ही जा रही थी और इनका अह गुब्बारे की तरह फूलता ही जा रहा था। मुझे इनके अह का शिकार होना खलने लगा। मेरी सूरत से चाहे मौन न टपकता हो, लेकिन मेरी सीरत चुप रहने की है। इस तरह मेरा स्वभाव पुस्तको से मिलता है। इसलिए इनकी सगति मे मुझे चैन मिलने लगा। इसकी एक और वजह भी थी। महफिलो मे पहले जहा शेर-ओ शायरी का वातावरण होता था सभाओ मे अब वहा नि दा-रस का ही सचार होता है। इस रस को चखना कभी कभी तो मुझे भी आता है, लेकिन हर वक्त नही। छह रसो के व्यजन म एक ही रस का पक्वान तो रोगी के लिए ही श्रेय हो सकता है। महफिलो मे शामिल होने के लिए घर से बाहर निकलना पडता है, लेकिन पुस्तको की सभा घर म ही लग सकती है। एक और भी कारण था, जो मुझे पुस्तको की सभा मे ले आया। महफिलो म कभी कभी किसी मे तू-तडाक भी हो जाती थी, लेकिन पुस्तको स भारतीय देवी के समान लडने का अवसर ही नही होता। आज्ञा पालन करने वालो से लडना किस तरह हो सकता है? इनके हाथ ही नही होते, इसलिए ताली किस तरह बज सकती है? इनके जबान ही नही होती इसलिए तू-तडाक किस तरह हो सकती है?

अब मुझे पहली बार अनुभव होन लगा है कि महफिल और सभा म अ तर भी है। इसके पहल मेरे लिए ये केवल उर्दू और हि दी के दो शब्द थे जो एक ही भाव के सूचक थे। अब मुझे यह लगता है कि दो समानार्थी शब्द कभी भी एक अर्थ को सूचित नही कर सकते। महफिल महफिल है और सभा सभा, पानी पानी है और जल जल। पानी में जल की गम्भीरता और पवित्रता किस तरह आ सकती है? इसी तरह सभा मे महफिल की

शोखी और रंगीनी किस तरह भर सकती है ? मैं दुनिया की महफिलों से उकताकर जब पुस्तकों की सभा में जमने लगा तब महसूसने लगा कि आकाश से गिरकर खजूर में लटक गया हूं। पुस्तकों से घिरकर इनका बन्दी बन गया हूं। सुबह से लेकर शाम तक और कभी कभी सोने से पहले तक कभी पुस्तक तो कभी पत्र पत्रिका में व्यस्त रहा हूं। आंखों के चश्मे का नम्बर भी हर साल बदलता रहा है। इस आदत का शिकार तब हुआ था जब स्कूल कॉलेज में ही पढ़ता था। पढ़ने से अधिक अंक पाता था और घर वालों से शाबाशी और बाहर वालों से जलन मिलती थी। लाहौर में नई से नई पुस्तक की बात करने का रिवाज-सा हो गया था। सब पुस्तकों को पढ़ना सम्भव न होता था। इसलिए कुछ के बारे में सूचनाओं के आधार पर ही बात करने का अभ्यास हो गया था और इसका मैंने पूरा लाभ भी उठाया है। आज तक इसका राज खुलने भी नहीं दिया। इसीलिए शायद एक विद्वान होने का भ्रम मेरे बारे में बना हुआ है, चाहे एक हिन्दी का विद्वान होने में सन्देह ही क्यों न रहा हो। यह सन्देह तब से दूर होने लगा है, जब से पान चबाना शुरू कर दिया है। इसलिए अब पुस्तकों से उकता जाना स्वाभाविक ही नहीं रहा, आवश्यक भी हो गया है। आज प्रोफेसरी का पद पाने के लिए इन तीन योग्यताओं से सम्पन्न होना पड़ता है—अपना मकान, अपनी गाड़ी और लिखना-पढ़ना बन्द। मैंने भी पढ़ना-लिखना बन्द कर दिया है। कभी-कभार जब पुरानी आदत से मजबूर हो जाता हूं और वक्तकटी के लिए किसी और साधन को जुटा नहीं पाता, तब केवल अपनी लिखी पुस्तकों का ही पाठ करता रहता हूं। इसकी वजह यह भी है कि इनके पाठक बहुत कम हैं, इसलिए ये हर वक्त लाइब्रेरी में मिल जाती हैं। इन्हें वहां इस स्थिति में पड़ा देख कर भी जी को चैन मिलता है कि मेरा नाम भी लेखकों में शुमार हो गया है, लेकिन स्वाधीनता के बाद हिन्दी के लेखक साहित्यकार कहलाने लगे हैं। साहित्यकार लेखक से बड़ा समझा जाने लगा है। लेकिन एक छोटा शहीद होने का भी निजी सन्तोष होता है।

मैंने पुस्तकों के बारे में अनेक मुहावरे तथा सूक्तियां पढ़ रखी हैं—जैसे मित्र धोखा दे जाते हैं पुस्तकें नहीं, पुस्तकें अनमोल रत्नों की खान हैं और ज्ञान विज्ञान का अथाह सागर हैं। कुछ किताबें चखने लायक होती हैं, कुछ निगलने लायक और कुछ पचाने लायक। अब न तो इनके चखने में मजा है और न ही इनके निगलने में स्वाद। इनके पचाने से अपच हो जाता है। जवाहरलाल नेहरू इसलिए उदास हो जाते थे कि भारत में किताबें पढ़ने का रिवाज बहुत कम है। मैं आज इसलिए उदास हूं कि इनसे

उक्ता गया हू, पुस्तका मे ही ससार मे रहते रहते जीवन स कट गया हू। मेरे कुछ मित्र इनसे उचाट नही हुए हैं। इनमे एक नान का चलता फिरता कोश है और दूसरा साहित्य का। इनसे कभी कभार जब मिलन का अवसर मिल जाता है तब लगता है कि इ सान से मिलने के बजाय कोश से साक्षात्कार कर रहा हू। इनकी बातो मे अपनापन नही, परायापन होता है। हर बात किसी आदमी का नाम लेकर की जाती है। हर बात के लिए किसी और की राय लेना बैसाखिया के बल पर चलने के समान है जो मुझे अब अखरन लगा है। मैं भी इनका सहारा लेकर अब तक चलता आया हू। स्वय सोचने की आदत पडने नही दी, अपना मत बनाने का कष्ट नही उठाया इस तरह धीरे धीरे इ सान से मशीन बनता आया हू। आज क मशीनी युग मे पुरजे की ही अधिक कद्र है। इसलिए आज फिर से व्यक्तित्व की खोज होने लगी है निजता को पाने की फिर से साधना होने लगी है। इन पुस्तका ने जहा नान का विस्तार किया है, वहा मानवीयता का सकोच भी। इसलिए शायद आज सृजनात्मक शक्ति म द पडन लगी है।

इनसे उकताने की वजह और भी है। इनका इतनी तादाद मे छपना पाठक को परेशान कर देता है। हर भाषा मे इनके छपन के आकडे भी निकलने लगे हैं। हर पुस्तक की तारीफ होन लगी है। इसलिए पाठक की सबसे बडी समस्या इनके चयन की है। क्या पढ़े और क्या न पढे ? जीवन की अवधि छोटी है और पुस्तका की सूची लम्बी। वह युग भी एक दृष्टि से कितना अच्छा था जब ग्रथ प्रकाशित न होकर हस्त लिखित होते थ। उस युग मे कूडा-करकट की सम्भावना बहुत कम थी। हर लेखक या चिन्तक अपने का मौलिक नही समझता था। आज पुस्तका का व्यवसाय है और व्यवसाय म मिलावट चलती है प्रचार होता है और गुमराह करने की शक्ति होती है। इसलिए इनसे मेरा उकता जाना स्वाभाविक है। आज पुस्तकालया मे किताबो स ठसी आलमारियो को देखकर चकित हो जाता हू दूकानो मे इनके सटे अम्बारो से विस्मित हो जाता हू, नित नय प्रकाशको की भीड से घबराने लगता हू। इतना पढते पढते थक भी गया हू। एक थके पथिक की तरह विश्राम चाहता हू। यह भी अनुभव करने लगा हू कि इतना पढने का परिणाम सिफर निकला है, किसी मजिल पर नही पहुचा हू। अब इस पाने की सम्भावना कम होती जा रही है। अधिक पढने मे सकुचता ही गहरायी है, जटिलता ही बढी है। दुनिया की महफिला से उकताकर जिस तरह पुस्तका की सभा म चला आया था उसी तरह पुस्तको से उकताकर अब चिन्तन मनन क नीड म जाने को जी चाहता है। पुस्तका को खा-पीकर अब गाय की तरह जुगाली करने को मन होता है।●

झूठ बोलने की कला

झूठ बोलना आज भी एक कला है, कल भी थी और आने वाले कल भी रहेगी। आप जानते है कि कला वही होती है जिसका स्वरूप शाश्वत हो। इस कला को सिद्ध करना उतना ही कठिन है जितना किसी अन्य ललित कला में कुशलता पाना मुश्किल है। इसलिए झूठ बोलने का यदि छठी ललितकला का रूप दिया जाए तो अनुचित न होगा। मैं आपसे सहमत हू कि झूठ कलात्मक नही हो सकता, परन्तु झूठ बोलना आदिकाल से कलात्मक रहा है। इसलिए झूठ और झूठ बोलना मे भारी अन्तर रहता है। सच कहने के लिए कला का सहारा लेना पडता, परन्तु झूठ बोलने के लिए उतनी कठोर साधना करनी पडती है जितनी किसी अन्य ललितकला के लिए अपेक्षित होती है। आप मुझे नास्तिक कहकर मेरी बात पर विश्वास नही करेंगे। इसलिए मैं आपको सत्यवादी और आस्तिक युधिष्ठिर का स्मरण कराता हू जिन्हें झूठ बोलने के लिए कला का आश्रय तब लेना पडा था जब उन्होने महाभारत के युद्ध मे अश्वत्थामा के मारे जाने का समाचार दिया था। उन्होने वास्तविक को छिपाने के लिए कला का काम लिया था। झूठ बोलने और वास्तविकता का छिपाने मे विशेष अन्तर नहीं होता। इसलिए झूठ बोलना एक कला है।

इस कला के अनेक नाम और रूप हैं। इसको सिद्ध करने के लिए उन सब शक्तियो का सचय करना पडता है जो अन्य कलाओ को सिद्ध करने के लिए आवश्यक होती हैं। इन शक्तियो मे कल्पना-शक्ति, स्मरण-शक्ति और सजन शक्ति की विशेष रूप से गणना की जाती है। इनके समन्वित उपयोग से ही झूठ बोलने मे कुशलता उपलब्ध होती है और काम मे कुशलता पाने को गीता मे योग की सज्ञा दी गई है। इसलिए योगी और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही झूठ बोलने का जोखिम उठा सकता है। यदि वह कल्पना शक्ति से वचित है तो वह बात बना ही नहीं सकता, यदि उसमे अभिव्यजना-शक्ति का अभाव है तो वह बात बनाकर भी कह नही सकता

और यदि उसकी स्मरण-शक्ति तीक्ष्ण है तो उसका झूठ पकडा जाएगा। यदि पकडा जाता है तो झूठ नही रह जाता। महात्मा गाधी ने तभी तो कहा था कि सत्य बोलने के लिए स्मरण शक्ति की आवश्यकता नही होती। सत्यवादी का यह स्मरण रखने की आवश्यकता नही पडती कि उसने कहा, किस समय, किस व्यक्ति स क्या कहा था उसे अपनी स्मरण शक्ति पर बोझ डालना नहीं पडता, परन्तु झूठ बोलने के लिए स्मरण शक्ति को तलवार की धार की तरह तेज रखना पडता है। यदि वह इसे कुण्ठित कर देता है ता उसे अनेक विपम परिस्थितियो का सामना करना पडता है जब उसका झूठ पकडा जाता है। बद से बदनाम बुरा होता है। वह सफल कलाकार होता है और बदनाम असफल कलाकार। इस तरह वह असफल कलाकार की तरह इन तीना शक्तियो का समान रूप से उपयोग नही कर पाता। इनके समन्वित उपयोग से ही कला मे सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

इस कला का न तो वस्तु-पक्ष सीमित है और न ही इसका शिल्प-पक्ष परिमित है। झूठ के अनेक विषय हैं और इसके बोलने की उतनी ही शैलियाँ। शैली विषय के अनुरूप ही होती है। इस काल के विभिन्न विषय और इसकी विविध शलिया कलाकार या झूठ बोलने वाले की व्यक्तिगत रुचि का परिणाम है। झूठ बोलने म कलाकार का व्यक्तित्व भी झलकता है। इस कला के वस्तु-पक्ष के सीमित न होने पर भी झूठ को सुविधा की दष्टि से तीन श्रेणियो मे बाटा जा सकता है—शुद्ध झूठ, अशुद्ध झूठ और मिश्रित झूठ। इन तीन रुपा का सशोधन एव परिष्कार भी हो सकता है। इसलिए मैंने झूठ का विभाजन करत समय यह कहा है कि यह भेद सुविधा की दृष्टि से किया गया है। शुद्ध झूठ बोलन के लिए कल्पना शक्ति की अधिक अपेक्षा होती है। शुद्ध झूठ वह है जिसम वास्तविकता का नितान्त अभाव हो। इसे सफेद झूठ का नाम दिया जाता है। साहित्यिक क्षेत्र मे परियो की कथाए इसका उदाहरण है और व्यावहारिक जीवन म शिशु का छडी को घोडा समझना शुद्ध झूठ है। अशुद्ध झूठ बोलने के लिए स्मरण-शक्ति की अधिक अपेक्षा होती है। अशुद्ध झूठ मे वास्तविकता का अधिक पुट होता है वह सत्य के अधिक निकट होता है। इसलिए शुद्ध झूठ बोलने के लिए कल्पना शक्ति की जितनी अपक्षा होती है अशुद्ध झूठ के लिए उसकी उतनी ही उपक्षा होती है। इसका उदाहरण यथार्थवादी साहित्य है।

झूठ का तीसरा रूप मिश्रित है जिसम न तो वास्तविकता का इतना अभाव होता है जितना शुद्ध झूठ मे पाया जाता है और न ही झूठ का इतना बहिष्कार होता है जितना अशुद्ध झूठ म उपलब्ध है। मिश्रित झूठ म शुद्ध

शुद्ध और अशुद्ध झूठ का मधुर मिलन होता है जिससे सच झूठ लगता है और झूठ का आभास देता है। इसे कल्पना शक्ति, स्मरण शक्ति और अभिव्यंजना शक्ति तीनों के संतुलन एवं समन्वित उपयोग से कलात्मक रूप दिया जाता है। परियों के काल्पनिक जीवन का चित्रण शुद्ध झूठ है और कालिदास या शेक्सपियर के नाटकों में समन्वित जीवन का चित्रण मिश्रित झूठ है।

इस झूठ को बोलने के लिए अनुभव-सम्पन्न और समन्वयशील प्रतिभा की अपेक्षा होती है। इस रसायन को तैयार करने के लिए उस वैद्य की आवश्यकता है जो औषधियों और धातुओं के सही अनुपात एवं विधि का ज्ञान रखता है। इस अनुपात में किंचित भूल और विधि में किंचित असावधानी रसायन को विष बना सकती है। आधुनिक युग में मिश्रित झूठ बोलने की कला का ह्रास हो रहा है और अशुद्ध झूठ बोलने की कला का विकास हो रहा है। विज्ञान ने शुद्ध झूठ बोलने की कला को तो प्रायः नष्ट ही कर दिया है।

झूठ बोलने के ये तीन रूप साहित्य के क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं, परन्तु जीवन में तो इसके अनेक रूप मिलते हैं। झूठ की प्रेरणा देने वाली अनेक मनोवैज्ञानिक वृत्तियां और सामाजिक शक्तियां हैं। इनमें अहं की तुष्टि, स्वार्थ की सिद्धि, आत्मरक्षा की भावना, हीनता की गांठ, समाज का भय, यश की कामना आदि की गणना की जाती है। इस विश्लेषण से कला का कोई सम्बन्ध नहीं है। झूठ के विभिन्न रूपों का विश्लेषण मनोविज्ञान का विषय है, परन्तु झूठ बोलना कला का विषय है। साहित्य के विविध रूपों का विवेचन आलोचना का विषय होता है और साहित्य का सृजन कला का विषय है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक झूठ बोलने की अनेक शैलियां हैं। झूठ बोलना जीवन का अभिन्न अंग है। इसलिए सच कहने के लिए इतने उपदेश दिए गए हैं। झूठ बोलने में रस की अनुभूति भी होती है। रस की अनुभूति सब कलाओं के लिए उसका अभिन्न अंग मानी जाती है। यदि नारी सुषमा और बाल-वीरता की झूठ बोलकर प्रशंसा न की जाए तो जीवन के नीरस बनने की आशंका बनी रहती है। निष्कपट अहं की तुष्टि के लिए झूठ बोलना पड़ता है और इस झूठ को बोलने वाले और सुनने वाले दोनों का जी खिल उठता है।

कला का उद्देश्य ही हृदय का विस्तार और बुद्धि का परिष्कार करना है। इसलिए झूठ बोलना और प्रिय झूठ बोलना एक कला है। 'अनृत ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात' में ही कला का अस्तित्व होता है। झूठ अप्रिय भी हो सकता है। इसकी अभिव्यक्ति निंदा द्वारा होती है। आजकल निंदा को

भी रसो की कोटि मे रखने का साहस किया जा रहा है, परन्तु इसकी स्वीकृति मे अभी नैतिक बाधाए हैं जिनका धीरे-धीरे परिहार हो रहा है। झूठ बोलने को एक कला के रूप मे स्वीकार करने मे इतनी बाधाए नही हैं। इसकी परम्परा आदिकाल से चली आ रही है। यह ठीक है कि इस कला पर अभी स्वतन्त्र रूप से काव्य शास्त्र नही लिखा गया, परन्तु इस कला के सूत्र साहित्य तथा जीवन मे मिलते हैं जिन्हे बाधने की आवश्यकता है। ब्रह्म सत्य है और माया झूठ। इसलिए ब्रह्म या सत्य ज्ञानविज्ञान का विषय है और माया या झूठ साहित्य या कला का विषय है।

जीवन मे जितनी माया लुभाने वाली है, कला मे उतना झूठ बोलना लुभाने वाला होता है। झूठ बोलना साहित्य तक ही सीमित नही है, उसका विस्तार जीवन मे भी पाया जाता है। झूठ बोलना स्वय एक कला है।

बीमार पडने पर

मैं सचमुच मरने से इतना नही डरता हू जितना बीमार पडने से घबराता हू। इसकी एक वजह तो यह है कि मौत एक बार आती है और बीमारी बार-बार और बार-बार मुझे बहुतेरो के उपदेश सुनने पडते हैं, सबकी नसीहत को सहन करना पडता है। बीमार पडने का मतलब है बिस्तर पर पडने के लिए लाचार हो जाना। मुझे घर मे बीमार पडने के बजाय अस्पताल मे दाखिल होना बेहतर लगता है। लेकिन मेरी सुनी कहा जाती है। इससे मेरे मित्रो की सवेदना को ठेस लगती है। इनका कहना है कि घर मे अकेला होकर भी मैं अनाथ नही हू। इस तरह इनके दिल मे हम दरदी की बाढ उमडने लगती है जिसके लिए गालिब अपनी शायरी मे तरसते रहे। अब तीमारदारो का ताता लगना शुरू हो जाता है। मेरे स्टूडेण्टस मेरी बीमारी मे भी अपनी हाजरी लगवाना नही भूलते। पडोसी भी शिष्टाचार का पालन करना आवश्यक समझते हैं, परिचितो को वक्तकटी का अवसर हाथ लग जाता है। कुछ अपरिचितो से भी परिचित होना पडता है। इन सबको अपनी बीमारी का इतिहास बताना होता है।

और इसके बाद मेरे खान-पान के बारे मे उपदेशो का सिलसिला शुरू हो जाता है। एक मित्र तो मुझे रोज सैर करने की सलाह देकर ही सन्तोष की सास लेते हैं। इनका विचार है कि सब रोगो का कारण पेट की खराबी है और सैर इसका असली इलाज है। एक और मेरे मुह की पिलाहट को देखकर मुझे रोज काले चने का शोरबा पीने का और रोज ही पालक का साग खाने का उपदेश देते हैं। जोर, राज पर दिया जाता है। एक तीसरे हैं जो मेरी नब्ज पर हाथ रखकर और मेरी आयु का अनुमान लगाकर मुझे कभी-कभी उपवास करने की सलाह देते हैं। इसके लिए वह महात्मा गाधी का हवाला देते हैं और देश मे अन्न की स्थिति की ओर ध्यान दिलाते है। उपदेशक और भी हैं जिनमे एक तो केवल फलाहार की बात करते समय मेरी खाली जेब को भूल जाते है और दूसरे जो इसे नही

भूलते, मुझे सुबह शाम अदरक चबाने की सलाह देते है। वह समझते है कि मुझे बात का राग है। इस तरह खान पीन के बार म मेरे लिए उपदेशो का एक सकलन तैयार हो जाता है। मेरे एक मित्र न मेरे बिस्तर के ऐन सामने एक कैलेण्डर भी लटका दिया ह जिस पर सेहत के दस नियम छप हुए हैं। पहला नियम सरदियो म सरद पानी स और गरमियो मे गरम पानी से नहाने का है, दूसरा सुबह उठन का है तीसरा चाय पीन के बजाय दूध पीने का है जो प्राय नही मिलता, चौथा शुद्ध घी के इस्तमाल का है जिसम मिलावट होती है, पाचवा ब्रुश क बजाय दातुन करन का है। इन सबका अगर मुझ पालन करना है ता मुझे शहर छोडकर गाव म चला जाना होगा और अपनी नौकरी स इस्तीफा भी दना होगा। इसकी वजह यह है, आखो की तरह सेहत भी भगवान का वरदान है बाबा। इसके लिए सब कुछ करना पडता है।

इन उपदेशो के सिलसिल के बाद मेरी मेज़ पर औषधियो की कतारें लग जाती है और औषधिया भी हर तरह की ह—हकीमी, वद्यक, अगरेज़ी आदि स लकर होमियोपैथी तक की। इसका कारण यह बताया गया है कि दवा उसी को कहत हैं जो लग जाए, हकीम, वैद्य या डॉक्टर उसी का नाम है जिसके हाथ मे शफा हो। इसलिये कभी-कभी नीम हकीम हकीम से बेहतर समझा गया है, इसम चाहे जान का खतरा ही क्या न हो। मेरे कस्बे मे डाक्टर की इतनी धाक नही थी जितनी एक कम्पाउडर की, नस का इतना मान नही था जितना एक अनुभवी दाई का। मुझे बार-बार यह उपदेश दिया जाता है कि बीमारी के मामले म असली चीज़ अनुभव होता है, ना कि हकीम या डॉक्टर की लियाकत। किताबी लियाकत से कुछ नहीं बनता। मेरी मेज़ पर हर तरह की शीशिया सजी हुइ है और मेरी बीमारी एक लबोरेटरी बन गइ है। होमियोपैथी की नन्ही गोली के साथ पान खान और चाय पीने की मनाही है, वद्यक औषधि के साथ मिरच के सेवन का निषेध है। मुझे बडी हैरानी होती है जब मुझे यह उपदेश दिया जाता है कि गोली जितनी छोटी होगी असर उतना ही बडा होगा। छोटी गोली मे शक्ति अधिक होती है। इस तरह सुबह होमियोपैथी का इलाज, दोपहर को वैद्यक, शाम को हकीमी और रात को अगरेज़ी इलाज हो रहा है। मरी बीमार जान बिस्तर पर ही नहीं, असमजस म भी पडी हुई है। खान पर अकुश लगा हुआ है, उठने पर बन्दिश, पढन पर बन्धन और ज़बान पर ताला। मेरे लिए सब तरह का आराम जरूरी समझा गया है। इस तरह उपदेशो की दुनिया मे सांस ले रहा हू। अगर राग से मुक्ति मिलने म देर है तो उपदेशो से ही निजात मिल जाए। दूसरो आधा रोग

शायद कट जाएगा। मुझे एक मित्र की याद आ रही है जो खाने पीने के शौकीन है। एक बार जब वह बीमारी से उठे तो लोगो के उपदेशो के कारण बहुत कमजोर हो गए। आखिर उन्होने सोचा कि अगर एक दिन मरना ही है तो भूखो क्यो मरा जाए। एक दम खाना पीना शुरू कर दिया और वह तगडे हो गए। मुझमे इतना साहस नही है और फिर मैं कहता हू कि मैं मरने से डरता नही हू। अजब विसगति है जीवन की।

एक बार बिस्तर पर पडे-पडे इतना परेशान हो गया कि उठकर खुली धूप और हवा मे चला गया। मेरे नौकर ने यह चोरी करते मुझे पकड लिया। वह भी यह कहकर उपदेश देने लगा कि डॉक्टर साहब ने बाहर निकलने से रोक रखा है। लेकिन मेरे लिए उपदेशो का सकलन अभी छोटा है जो धीरे धीरे बडा हो रहा है। अब हालत इतनी नाजुक हो चुकी है कि नौकर तक ने उपदेश देने की कला को सीख लिया है। अक्सर यह कहा जाता है कि पराधीनता मे सुख सपने मे भी नही मिलता, लेकिन मेरा अनुभव यह है कि पराधीनता से उपदेश पाने की स्थिति अधिक खराब है। इसके देने मे तो सुख है, पर इसे पाने मे दुख ही दुख है। अपन को सुख और दूसरे को दुख देना सबको आता है। तुलसीदास की कौन सुनता है।

इस तरह बीमार पडने से और पर उपदेश सुनन से शारीरिक और मानसिक कष्ट तो हुआ है, पर इसका मुझे लाभ भी हुआ है। एक तो यह कि मुझे इतनी औषधियो के नाम तथा परिणाम याद हो गए है कि मैं आधा डॉक्टर समझा जाने लगा हू। इसका नतीजा भी भुगत चुका हू। एक बार आधी रात का जोर से बजती घण्टी न मुझे जगा दिया। एक अधेड औरत अपनी लडकी के इलाज के लिए मुझे ले जाने पर मजबूर करने लगी। मैंने बहुतरा कहा कि मैं किताबी डाक्टर हू, परन्तु वह मुह मागी फीस देने की बात करने लगी। मैंने जाकर देखा कि लडकी की हालत बहुत खराब थी और तो मुझसे क्या बन सकता था, मैं उसे नीबू पानी देने की सलाह देकर लौट आया। सुबह उठते ही खुशी से नम आखो से उस औरत ने मुझ खबर दी कि लडकी बिलकुल ठीक हो गई है। तब से मेरे डॉक्टर होने की शोहरत फैलती ही गई है। क्या खाना चाहिए और पीना चाहिए—इसके बारे मे भी मेरी धाक जमती ही गई है। आज मैं पर-उपदेश देने की कला म कुशल हो गया हू ताकि आपको विश्वास हो जाए कि मैं वास्तव मे बीमार पडा था। अगर मैं सच बोलता कि मैं कभी बिस्तर पर नही पडा, तो आप मेरा यह उपदेश कहा सुनते। उपदेश देने के लिए झूठ बोलने की कला सीखनी पडती है। ●

अपना मकान

अपना मकान इसलिए कह रहा हू कि यह भाडे का नही है और अपना घर कहने से इसलिए कतरा रहा हू कि इसम मैं अकेला रहता हू। एक किराये का मकान परिवार की रौनक से घर कहलाने का अधिकारी हो जाता है, लेकिन अपना मकान एकान्त और शात होने के कारण इस अधिकार से वचित रह जाता है। इसे मैंने घर की तरह पाला-पोसा है, इसमे मुझे घर का आराम भी मिला है, लकिन हर परिचित और अपरिचित न मेरे मकान का ही पता पूछा है या मैं अपने मकान पर कब मिल सकता हू। एक घर या घोसल म बडे हाकर सब पछी जब वहा से उड जाते है तब भी वह घर या नीड ही कहलाता रहता है।

मुझे अपना मकान बनवान का बिल्कुल शौक नही था, लेकिन फिर भी इसे बनवाना पडा है। यह विवशता का परिणाम है। भारतीय समाज म एक अविवाहित के लिए किराये का मकान मिलना कितनी परेशानी का काम है, यह वही जानता है। इसकी खोज मे जब कभी निकला हू सबसे पहला सवाल यही पूछा गया है कि मेरा परिवार कितना और कहा है—कितना इसलिए कि कही बडा परिवार मकान के लिए बोझ बन न जाए और इसे बिगाड न दे, और कही इसलिए कि यह कही नदारत न हो। हर बार मुझे झूठ बोलना पडा है कि परिवार बहुत छोटा है, लेकिन आएगा बाद म। इसके आने से पहले मुझे एक मकान छोडकर दूसरे मे जाना पडा है, एक से परिचित होकर दूसरे का परिचय पाना पडा है। मुह मागा किराया भी दिया है, लेकिन फिर भी इससे निकलना पडा है। इस तरह बार-बार का अपमान सहन करना पडा है। जब से मैं किराये के मकान म अपना सामान बद रखा है तब से पडोस की महिलाओ का मेरे यहा आना-जाना शुरू हुआ है। अपनी जाति को मिलने की कामना जितनी देवियो म होती है, उतनी शायद दवताओ म नही होती। इन दवियो के चेहरो पर सन्देह की रेखाओ को पढते देखकर मेरा माथा ठनका है कि मुझ पूरा

सामान खोलने का साहस तक नही हुआ है। इस तरह अगले मकान की तलाश मे निकलना पडा है। इसलिए अनचाहे मुझे अपना मकान बनवाना पडा है। इस तरह अभिशाप भी कभी कभी वरदान बन जाता है। यह है तो आखिरी वक्त कलमा पढने के बराबर, लेकिन इस तरह का काफिर होन से बच गया हू। इससे पहले मैं अछूत की स्थिति मे था, शहर के बाहर अछूतो की तरह किराये का मकान नसीब होता था। अब यह मकान चण्डीगढ़ के ऐन बीच मे है। इससे भी थोडा सन्तोष मिलता है। छोटी जाति से बडी जाति का हो जाना भी तो भारत मे कम सन्तोष की बात नही है।

अपना मकान बनवान का एक लाभ यह भी हुआ है कि अब मैं इसके एक-एक कोन से परिचित हो गया हू महादेवी की भाषा मे इसके एक एक कण को जान लिया है। यह मेरा एक परिचित ही नही रहा, दिली दोस्त भी बन गया है, जिसकी रग-रग को जानकर ही इसे दोस्त कहा जा सकता है। बिजली के हर बटन को अधेरे मे ही दबा लेता हू, हर नल के स्वभाव को पहचान गया हू, हर चिटकनी की सख्ती और नरमी को जान गया हू, हर अलमारी की बिसात से वाकिफ हो गया हू। इसे मैंन बडी रीझ से सजाया है, बडे शौक से रगवाया है और बडी सभाल से रखा है। यह एक नववधू की तरह अपनी लाज म हुलसता है। लकिन कब तक! इस पर पानी पडेगा जो इसके रगो को धो डालेगा, आधियां आएगी जो इस पर धूल डाल जाएगी, ओले पडेंगे जो इसके रोगन की चमक को मन्द कर देंगे। लेकिन फिर भी हर नववधू का अपने विवाह के समय लाज मे हुलसना भी तो स्वाभाविक है, उसका शृगार करना जन्मसिद्ध अधिकार है। मैंने अपने मकान को नववधू की तरह सजाया है। अगर निराला अपनी लडकी सरोज का अलकार स्वय कर सकते थे और उसकी सुहाग शैया को स्वय सजा सकते थे, तो मुझे अपने मकान का शृगार करने मे सकोच किस तरह हो सकता है! हर कमरे का अपना व्यक्तित्व है, उसका अपना रग है और इसके अनुरूप परदों का रग है। अगर बाद म इनका रग मैला हो जाएगा या मन्द पड जाएगा, तो इसकी चिन्ता नही है। नववधू भी तो माता बनने के बाद अपनी पहली आभा खो देती है, इसमे नयी तरह की आभा चाहे आ जाती है। इसी तरह मकान का मैलापन और फीकापन अपनी आत्मीयता म अधिक चमक सकता है। अब तो इसे छूने से भी परहेज करता हू, ताकि इस पर दाग न पड जाए, लेकिन बाद मे इसके दाग ही इसकी निजता का आभास देंगे। इसमे अजब तरह का अपनापन तथा परायापन अनुभव होता है, अपनापन इसलिए कि यह किराये का नहीं

है और परायापन इसलिए कि बाद म इसम कौन रहेगा और इसे किस तरह रखेगा ! इस चिता का कारण यह भी है कि मैं इसमें पूजा पाठ करके दाखिल नही हुआ हू। मरी छोटी भाभी को इसका शौक था और उसने गाय का बढिया घी और हवन का सामान खरीद भी रखा था, लेकिन घी इतना बढिया था कि इसे जलाने के बजाय मुझे खाना बेहतर लगा। असल म वह कुछ लोगा को बुलाकर इस दिखाना चाहती थी, पूजा-पाठ तो एक बहाना था।

अगर अपने मकान का सुख होता है, तो इसका दुख भी है, लाभ है तो हानि भी। सबसे बडा दुख यह है कि पडोसी से अगर अनबन हो जाती है तो इसे बदला नही जा सकता। किराये के मकान म यह सुविधा हाती है। इसलिए मैंने मकान के चारो तरफ ऊची झाड लगवा ली है, ताकि पडोसी आखो से आझल हो जाए, अनबन का अवसर ही न मिले। मेरे पडोसिया के भी अपने-अपने मकान हैं। इसके लिए भी मकान बद-लना असम्भव है और अपने नये मकान का किराये पर देना भी उसी तरह लगता है जिस तरह सुमन के कोठे पर जाकर बैठ जाना। एक बार इस तरह युवती के कोठे पर बैठ जाने के बाद म उसका उद्धार नही हो सकता, एक बार मकान के किराये पर चढ जाने के बाद इसका सुधार नही हो सकता। इसकी सूरत इतनी बिगड जाती है कि इसका लौटाना असम्भव हो जाता है। अपना मकान बनवाने का एक और दुख भी है। यह अधिक को खलता है और कम को भाता है, खलने और भाने के अपने-अपने कारण हैं। यह बहुत छोटा है। इसलिए एक बडे परिवार वाले का इसका खलना स्वाभाविक है। यह मेरे लिए बहुत बडा है। इसलिए एक समाजवादी को इसका अखरना उतना ही स्वाभाविक है। इसी तरह एक देखने वाले को इसका दोष दूसरे को इसका गुण लगता है। हर देखने वाले ने दोषो को दूर करने की सलाह भी दी है। मैंने इनके लिए एक कॉपी तथा पेंसिल मेज पर रख दी है, ताकि सब की कीमती राय का लाभ उठा सकू। पेंसिल तो बार बार गुम होती रही है, लेकिन कॉपी कायम है। इस कॉपी के आधार पर मकान के गुण-दोषो को जब तोला है तो इनका बराबर निक-लना मन को सन्तोष देता है। इस तरह इसकी शक्ल औसत है, न बुरी है और न ही भली, और औसत शक्लो पर ही तो ससार भी टिका है, औसत पत्नी के आधार पर ही तो परिवार चलता है। इसलिए मकान या पत्नी का भाना या खलना एक बराबर है।

मेरे लिए अपने मकान की समस्या निजी है। इस पर सबकी आखें हैं। मकान एक है और आखें अनेक। यह समझ में नही आ रहा कि यह

किसके नाम लिखा जाए। जायदाद का अगर सुख होता है तो इसका दु:ख भी है। अगर एक को देता हू तो उसमे सभालने की शक्ति नही है, और अगर इसे दूसरे के हवाले करता हू तो उसे रहने का ढग नही आता। मेरे एक मित्र अपना मकान बनवाने पर मुझ पर तरस भी खाते हैं। यह इस लिए कि वह हर दो साल के बाद मकान और हर तीन साल के बाद गाडी बदलने के हक मे है। इनका कहना है कि पुराना मकान और पुरानी गाडी झझट बन जाते हैं। कभी पुराने मकान का नल टपकने लगता है तो कभी गाडी का घिसा हुआ टायर रास्ते मे फट जाता है। वह पत्नी की बात इस लिए नही करते कि वह इनके साथ होती हैं। अगर अपना मकान बनवाकर मुझे दुविधा मे पडना था और यह एक भूल थी तो अब इसे किस तरह सुधारा जा सकता है। अब इतनी आयु किराये के मकानो मे बीत चुकी थी तो बाकी भी इसमे बीत सकती थी। यह बडी उमर मे शादी करके पछताने के समान है, लेकिन पश्चिम के देशो मे इसका रिवाज बढ रहा है। इस आयु मे ही एक साथी की आवश्यकता अधिक महसूस होने लगती है। क्या आखिरी उमर मे कलमा नही पढा जा सकता ? अब तो अपना मकान बन चुका है, इसे गिराया नही जा सकता। इसमे रहने के सिवाय मेरे पास और चारा ही क्या है ?

इन्तजार और इन्तज़ार

क्या दुनिया उम्मीद के सहारे जीती है या इन्तजार के ? सबको किसी-न किसी का इन्तजार घेरे रहता है। इनकी अगर सूची तैयार की जाती है तो असली बात का इन्तजार लगा रहेगा। इसलिए इन्तजार करने वाले की बात करना बेहतर जान पड़ता है। एक औरत शाम के पांच बजते ही फाटक पर खड़ी है। या अपने कमरे की खिड़की से सड़क पर झांक रही है। यह किसी दोस्त का इन्तजार नहीं कर रही है, अपने पति के इन्तजार में है जो छुट्टी से बीस मिनट पहले अपना थैला उठाकर घर की राह लेता है और रास्ते में किसी से बात नहीं करता। वह तांगे के थके मांदे घोड़े की तरह अपने अस्तबल की तरफ सरपट दौड़ रहा है। अगर वह कहीं थोड़ा लेट हो जाता है तो कसूर सिपाही का होता है जो हाथ नहीं देता। इस हालत में पत्नी को हर तरह के बुरे ख्याल आने लगते हैं। उसने अभी तक अपना बीमा नहीं करवाया है। यह बीवी के इन्तजार करने का ढंग है जिसमें इतनी शिद्दत नहीं होती जितनी आशिक के इन्तजार में होती है। अंधेरा हो चुका है। वह बाग में इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर काट रहा है। हर लड़की को दूर से अपनी माशूका समझने लगता है कि पास जाकर उसे पता चलता है कि यह किसी दूसरे की माशूका है। पुराने ज़माने में इन्तजार का ढंग और था। अभिसारिका नायिका रात को पायजेब उतारकर अपने नायक को खास जगह मिलने जाया करती थी। वह दिन ढलते ही वहां पहुंच जाता था और उसकी बाट जोहा करता था। हो सकता है वह अपनी आंखें बंद कर उसके रूप को पीता रहता हो।

एक निमाज़ी को शाम का इन्तज़ार घेर लेता है, एक नौकरीपेशा को पहली तारीख का एक दुकानदार को गाहक का और एक शौकीन को पार्टी का। एक मोमिन को जानता हूं जिसने हर शाम को नमाज़पढ़ने की आदत डाल रखी है। गालिब कि यह तकलीफ यह है कि यह दो तरह की

नमाजें एक साथ नही पढ सकते थे। जो वक्त ऐन नमाज का होता था, वह पीने का होता था। सर्दियों मे इस नमाजी को इतनी तकलीफ नहीं होती जितनी गरमियों मे जब दिन ढलने मे ही नहीं आता। बरसात म दिन ढलने से पहले अगर बादल इसे ढाक देते हैं तो वह सिजदा करने की हालत मे आ जाता है। एक नौकरीपेशा जानता है कि दूसरी तारीख को उसका बटुआ खाली हो जाएगा, लेकिन फिर भी वह पहली के इन्तजार म रहता है और एक दिन पहले अपना फटा बटुआ सी कर अपनी इन्तजार का सबूत देता है। इस दिन उसकी खुशी एक महीने के बराबर होती है। इसके बाद वह कोल्हू के बैल की तरह आखो पर पट्टी बाँध लेता है ताकि उधार देने वाले कही दीख न जाए। उसकी गैरहाजिरी मे उसकी बीबी दरवाजा बद कर लेती है। हया या शरम के मारे वह बाहर किस तरह सबके सामने आ सकती है! एक दुकानदार न पता नही सुबह किसका मुह देखा कि दोपहर तक एक गाहक नही टपका। वह जानता है कि गाहक मौत की तरह किसी भी समय टपक सकता है। अगर उसन कुछ भी नही खरीदना हो तो वह उसके इन्तजार म बैठा रहता है सुस्ताता रहता है। एक शौकीन लडके या लडकी को धोबी का इन्तजार किसी आशिक से कम नही होता। और धोबी को कभी बरसात लाचार कर देती है तो कभी गरमी या सरदी परेशान कर देती है। बहार ही उसके अनुकूल बैठती है। उधर शौकीन लडके को कोट के साथ मैच करन वाली पतलून बठती नही है और इधर लडकी के पास जूते से मैच करने वाली साडी नही है। कैसे दावत म जाए? अगर धोबी को जब कभी इलहाम हो जाता है और वह अचानक टपक पडता है तो इनके लिए दूज का चाद निकल आता है और कौन हर महीने इसका इन्तजार नही करता है।

इस तरह एक सँरिया दूसरे-तीसरे सँरिये के इन्तजार म है, एक लडका या लडकी स्कूल मे छुट्टी की घण्टी बजने के इन्तजार मे है एक कुत्ता अपनी मेमसाहब के इन्तजार म बधा हुआ है, एक अदद दो अदद हाने का बाट जोह रहा है, एक मा अपन स्कूली बेटे के लौटन की राह देख रही है। इन्सान ही इन्तजार नही करता, हैवान भी करता है। गाय को अपने बछडे के लिए तडपते सबन देखा होगा। मैंने एक चिडी को अपने बेपर नन्ह की इन्तजार म ची ची करते देखा है जो अपने घासले म गिर पडा था। एक सँरिये को पौ फटते ही या उससे भी पहले अपने सरिय साथी के घर के सामने इन्तजार मे खडे देखा है। वह मेरे फाटक के सामन एक बार आकर इन्तजार करन लगे और मैंने बडी मुश्किल से यह कह कर छुटकारा पाया कि सैर करने की मैंने आदत नहीं डाली है और

हो सकता है इसे तोड़न से यही बिस्तर पर लेटना न पड़े। उसको मेरी आदत पर तरस आया और मुझे उसकी आदत पर। एक मासूम लड़का या लड़की स्कूल में सुबह स मास्टर या मास्टरानी की डांट खा रहे हैं। व छुट्टी की घण्टी का किस शिद्दत स इन्तज़ार कर रहे हैं इसे वे बता तो नहीं सकते लेकिन कर सकते है जब वह पहली टन-टन पर अपना बस्ता सम्भालने लगते हैं। मेमसाहब की इन्तज़ार में कुत्ते की जितनी दिलचस्प कहानियां सुनने को मिलती हैं उतनी साहब बहादुर की नहीं। यह शायद इसलिए कि साहब मेमसाहब का इन्तज़ार कम करते हैं। एक में दो होन से बाट कभी-कभी इतनी लम्बी हो जाती है कि यह गोदो का इन्तज़ार बन जाती है। मनपसन्द लड़की का इन्तज़ार इसी तरह का होता है जबकि शादी के लिहाज से एक लड़की दूसरी लड़की से भिन्न नहीं होती। एक बार एक सब्ज़ी बेचने वाले ने बड़े पते की बात कही थी। उसके टोकरे में बची खुची भिंडिया के बारे में जब पूछा गया कि इनको कौन लेगा तो उसने कहा—साब, सब लड़कियों को लोग चुन चुन कर ले जाते हैं और सब लग जाती हैं। इसी तरह सब भिंडियां शाम तक लग जाएगी। इसके बाद ही कहीं पता लगता है कि किसी भिंडी में कीड़ा है। इस तरह वह गाहकों के इन्तज़ार मे बैठा रहता है। एक मा का अपने बेटे के लिए इन्तज़ार बेचैन करने वाला होता है। वह मूसलाधार बारिश में अपने मुन्न को स्कूल से लाने के लिए खुद बिना छतरी के पैदल चल देती है और मुन्ना इस बीच स्कूल की गाड़ी से लौट आता है।

इस तरह किसम किसम के इन्तज़ार के तरह तरह के ढग है और कभी-कभी लगता है कि सारी दुनिया इन्तज़ार में है। यह उसी तरह है जिस तरह सावन के अन्धे को सब कुछ हरा दीखता है। एक भगवान क अवतार लेने के इन्तज़ार में है ताकि वह साधुओं को बचाने के लिए शत्रुओं का नाश करे। अगर वह अवतार लेने म देर कर रहे हैं तो दूसरा खुद अवतार बनन के इन्तज़ार म है। इसी तरह एक मा बेटा पान के इन्तज़ार मे तीन-तीन लड़कियां पदा कर लेती है और पुत्र का जन्म देने की बाट जोहती रहती है, सन्तो और महन्ता के डेरो में भटकती रहती है। उसकी दलील यह है कि लड़कियां पराया धन होती हैं, अपनी नहीं बन सकती। इनको पढ़ा लिखा कर भी दहेज देना पड़ता है जवानी मे इनकी रखवाली करने के लिए खुद घर म कैद होना पड़ता है। एक और लखपति होन के इन्तज़ार में अपना आख़िरी सामान भी दाव पर लगा देता है। यही हाल लाटरी की दुनिया का है।

अगर मेरा किसी को इन्तज़ार नहीं है तो मुझे भी किसी का इन्तज़ार

नहीं है। केवल डाक का इन्तज़ार अवश्य है। इन्तज़ार के उतावलेपन मे दिन मे तीन-तीन बार अपने लैटर-बक्स को खोलता रहता हूं। कभी कभी इतवार को भी आदत की मजबूरी मे इसे खोलकर बाद मे मुझे अपनी भूल का एहसास होता है। इसमे निजी खत कम होते हैं, सरकारी ही अधिक होते हैं जिनमे रिसालें भी शामिल हैं। अगर किसी दिन एक भी खत नही आता या डाकिया मेरे घर के पास से होकर आगे चल देता है तो यह महसूस होने लगता है कि दुनिया शायद मुझे अगले जहान मे समझने लगी है। इस तरह डाक मुझे ज़िन्दा होने का एहसास कराती है। आमतौर पर डाकिया मुझे आवाज़ देकर खत देता है। वह जानता है कि डाक और डाकिये का मैं कितना कदरदान हूं। इकबाल की ज़बान मे चमन मे मुश्किल से पैदा होने वाला दीदावर हूं। •

दिल के बहलाने को

एक युग था जब पैदल चल कर मन बहल जाता था, चौसर-ताश शतरज खेलकर या तीतर-बटेर लड़ाकर समय बीत जाता था। मिरज़ा ग़ालिब सुबह से शाम तक शायरी थोड़े ही करते थे, उनको भी चौसर शतरज का चस्का था। प्रेमचन्द भी तो शतरज के खिलाड़ी थे जिनको खेल मे आस पास की सुध नही रहती थी। इसके बहुत पहले भी मनोरजन के अनेक साधन होते थे। पढ़े लिखे होते थे तो उनको काव्य शास्त्र का व्यसन था, साधन वाले होते थे तो साधना के चुक जाने पर पत्नी तक को दाव पर लगा देते थे। यह सही है कि आज की पत्नी को सबके सामने दाव पर नही लगाया जा सकता। यह भी सही है कि चौसर शतरज खेलन के लिए आज के सवेदनशील के पास न ही समय है और न ही धीरज। सुनने मे आया है कि अमरीका मे बेकार आदमी भी सुबह उठकर उसी उतावलेपन से बूट पालिश करता है, हजामत बनाता है और नाश्ता लेता है जिस तरह काम पर जाने वाला तैयार होता है। उसके मुह मे भी टोस्ट का टुकड़ा उसी तरह होता है जिस तरह नौकरी पर हाजिर होन वाले के मुह म जिसे भागते भागते बस या गाडी पकडनी होती है। बेकार भी शाम को उसी तरह थका मादा लौटता है जिस तरह काम पर जाने वाला। इतनी व्यस्तता होने पर मन भटकने से बाज नही आता और जी बहला मे नही आता। हर कविता-कहानी मे आज जी उदास उदास उखडा-उखडा सा नजर आता है। दिल बहलान के साधन तो बढते जा रहे हैं, लेकिन मन है कि वह बह लने मे नही आता। इसलिए बारियत गहरी होती जा रही है।

एक बाबा को जानता हू जिनकी नीद अनायास रात के तीसरे पहर खुल जाती है। इसकी नजर भी कमज़ोर है, लेकिन भगवान पर इनका बेहद विश्वास है। वह माला के मनको को गिन गिनकर अपना मन ही नही बहला लेते मन को सन्तोष भी द लते हैं। एक सौ आठ मनके गिनते गिनते अगर भूल हो जाती है तो एक सौ आठ मनके फिर गिनने लग पडत

हैं। मालाएं भी इनके पास दो हैं। घर में पोते-नाते तंग करने के लिए एक को छिपा भी देते हैं। मन की माला न सही, मनकों की तो है और संत कबीर ने इसका क्यों विरोध किया है? आज भगवान पर विश्वास करना वहम माना जाता है, लेकिन क्या यह वहम दिल बहलाने के लिए बुरा है? इसे किसी तरह तो बहलाना पडता है। समय किसी तरह तो बिताना ही पडता है। मेरे रिटायर पडोसी ने अपने बाग में सब्जी ही सब्जी लगा रखी है, फूल लगाने में उनका विश्वास नहीं है। सुबह उठकर वह हर बैंगन और गोभी के फूल को बडा होते देख इतना खुश हो जाते हैं कि वह इसे अकेले सहन नहीं कर पाते। इस खुशी में वह अपनी बीवी को शामिल करने के लिए उसे एक एक बैंगन गिनवाते हैं और एक गम्भीर बातचीत के बाद एक अहम फैसला करते हैं कि दोपहर के भोजन पर क्या बनेगा। वह रात के भोजन का फैसला सुबह इसलिए नहीं करते हैं कि शाम को भी उनसे अपना दिल बहलाना होता है। इसी तरह बूढी काकी को अगर घर में दिल बहलाने का अवसर नहीं दिया जाता और उसे आज घर की वस्तु समझ लिया जाता है तो वह मंदिर में जाकर एक-दूसरे की चुगली से अपने जी को चैन दे लेती है। भगवान के सामने चुगली करना भी चुगली नहीं माना जाता। जवान लडकियां बिना कुछ खरीदे, शापिंग से अपना मन बहला लेती हैं। क्या शापिंग में खरीदना शामिल है? क्या खुद खरीदने से अधिक जी बहलता है या दूसरों को खरीदवाने में, अपने जेब से पैसे निकालने में या दूसरों की जेब से निकलवाने में?

इसलिए समय जब भारी पडने लगता है और अक्सर यह भारी पडने लगता है तो इसे बिताने के लिए या अपना जी बहलाने के लिए अनेक साधनों को अपनाना पडता है। इनमें अकेले सैर-सपाटा करना भी है और बिना मतलब के मिलना-जुलना भी, दावतें देना भी है और दावतें खाना भी, खत लिखना भी है और पाना भी, किताबें पढना भी और अखबार बांचना भी। अब खत लिखना कम हो जाएगा, डाक के भाव इतने बढा दिए गए हैं कि जन्म-मरण और गठबन्धन के सिवा खत के लिए खत लिखना कठिन हो जाएगा। किताबों और अखबारों के भाव भी चढ़ते जा रहे हैं। इन्हें मांगकर पढ़ना भी मुश्किल होता जा रहा है। इसलिए दिल बहलाने का सवाल टेढ़ा होता जा रहा है। इधर साधनों की एक तरफ कमी होती जा रही है और उधर दिल जटिल से जटिलतर होता जा रहा है। यह न तो माला फेरने से बहलता है और न ही गोभी का फूल उगाने से। कुकुरमुत्ता उगाने का सवाल ही नहीं उठता। इसे उगाया नहीं जा सकता।

यह केवल पढ़े-लिखों के बारे मे सही नही, अनपढों के बारे मे भी सही है। अपना जी बहलाने के लिए मेरे नौकर ने तब से ताश खेलना छोड दिया है जब से पूस की एक रात वो वह अपने दोनो कम्बल दाव पर लगा बैठा और हार गया और मैंने उसे खाट पर ठिठुरते हुए पाया। क्या उसका दोष द्रौपदी से कम था ? अब वह घर जाने की सोच रहा है।

आज महगाई के जमाने मे दिल बहलाने के पुराने शौक छूटते जा रहे हैं। मेरे एक मित्र बदलते मौसमो से दिल बहलाने की सीख देते हैं। इसमे पैसे का सवाल ही नही उठता। वह पूनम की चादनी का देखकर जी बहलाने के लिए कहते हैं। आज पूनम की चादनी भी कुवारी नही रही, इस पर भी धरती का राकेट पहुच चका है। वह बाहर के मौसम की बात शुरू कर देते हैं, लेकिन इश्क की तरह इसकी अवधि इतनी छोटी होती है कि कब तक इससे जी बहल सकता है। शादी तो गरमी-सरदी से करनी होती है। वह सुबह शाम सैर करने को कहते हैं, लेकिन मेरा जवाब एक ही होता है—अभी मैं स्वस्थ हू। एक एक करके वह उन सब साधनो को गिनवाते हैं जिनमे पैसे का सवाल नही उठता—जैसे बेकार की हाकना जिसमे अब सार नही रहा, निंदा करना जिसमे अब कला नही रही, मिलना-जुलना जिसमे अब रस नही रहा।

यदि सारहीन और रसहीन साधनो से ही अब दिल बहलाना है तो बैठे ठाले कलम घसीटना क्या बुरा है! कागज और स्याही का ही तो खच है। हास्य-व्यग्यकारो की बही मे नाम थोड़े ही दरज करवाना है कि इसका सूद चुकाता रहू। इस तरह के लिखने मे न तो सोचना पडता है और न ही जोडना। इसके बारे मे एक अपरिचित का जब यह पत्र मिला कि मुझे नही मालम था कि छोटा मुह भी बडी बात कर सकता है तो मेरा दिल न केवल बहल गया खिल भी गया। इस पत्र को मैं शीशे मे जडवाने की सोच ही रहा था कि इतने मे एक और पत्र मिला जिसमे यह लिखा था कि बात मे न तो वजन होता है और न ही भाषा में सस्कार। इनका जवाब भी मांगा गया था। मैंने पहले पत्र को सुरक्षित रखने का विचार तो तरक कर दिया और दानो को रद्दी की टोकरी के हवाले करते हुए यह जवाब दिया—'अकविता-अकहानी मे न तो सार होता है और न ही भाषा का सस्कार। अनाटक का सवाल अभी-अभी पैदा हुआ है। नाटक के बाद ही अनाटक की रचना हो सकती है। यदि अकविता अकहानी लिखी जा सकती है तो बैठे-ठाले क्यो नही ?' यह लिखकर अनुभव किया कि मेरा जवाब उतना ही बेमानी है जितना उसका सवाल। ●

इश्तिहारबाज़ी

एक जमाना था जब पत्र-पत्रिकाओ मे रचनाए पढ़ने को मिलती थी और रेडियो पर भी कभी-कभी इन्हें सुनने का अवसर मिल जाता था, लेकिन जब से इनमे न तो जान रही है और न ही वजन, तब से पत्रिकाओ मे निगाह इश्तिहारो पर पडने लगी है। जो रचनाओ से बेहतर जान पडते हैं। रेडियो पर तो इश्तिहार भी बोर करने वाले होते हैं। एक अरसे से इन पर तो सूत्रो की रचना होती रही है, लेकिन पत्रिकाओं मे इश्तिहारबाजी एक कला का रूप धारण करने लगी है। यह उसी तरह जिस तरह पुराने जमाने मे गपबाजी, पतगबाजी, बटेरबाजी, शेरबाजी, इश्कबाजी थी इश्तिहारो का बयान और अन्दाज ग़ालिब की शायरी के बयान और अन्दाज की तरह और हो गया है जो आज की रचनाओ से बेहतर जान पडता है। आज कहानी और कविता को इश्तिहारों से सजाना इसलिए आवश्यक हो गया है ताकि पाठक की नजर तो इन पर पड जाए और बाद मे चाहे उसे पछताना पडे। यह उसी तरह जिस तरह वस्तु को भावी खरीददार तक पहुचाना होता है। इसलिए आज अगर कहानी और कविता तिजारती बनते जा रहे हैं तो इसकी शिकायत करना बेकार है। यह युग की माग है। रेडियो पर तो अपना माल बेचने के लिए फिल्मी गीतो का सहारा लेना पडता है।

इश्तिहारो के जमाने मे आमतौर पर कामिनी एक साधन है जो साबुन, तेल, टूथपेस्ट, शेम्पू, कपडा, किताब और रचना तक बेचने के लिए आवश्यक है। यह कामिनी कभी पत्रिका के कवर पर, हरी घास पर, कभी गुदगुदाते सोफे पर तो कभी मुलायम फर्श पर लेटी निमन्त्रण दे रही होती है कि चीज कितनी कोमल है। वह कभी पेड की ओट मे खडी होकर दावत दे रही होती है कि टिफिन और ट्रांजिस्टर कितने बढ़िया हैं। वह कभी हवा में अपनी साडी का पल्लू लहरा रही है तो कभी साइकिल पर, लेकिन अब वह स्कूटर पर बैठी अपनी बेलबोटम दिखा रही है। इश्तिहार

साइकिल और वेलबोटम दोना का हो सकता है, कामिनी का नहीं, वह तो केवल एक साधन है। इसी तरह वह कभी अपनी चुस्त अंगिया म बहान अपना यौवन लुटा रही है तो कभी टूथपेस्ट के बहाने अपनी मुस्कराहट बिखेर रही है कभी शम्पू के लिए अपनी खुली अलकें सहला रही है तो कभी माथे पर बिन्दी लगाकर अपनी आँखें मटका रही है। आज कभी कभी कामिनी के साथ कामी को खडा करना लाजमी हो गया है। यह शायद बराबरी के लिए इतना नहीं जितना सूट बेचन के लिए। अगर कामी के तन पर बढ़िया सूट न हो तो वह छोकरी और नौकरी पाने म असफल साबित हो सकता है। इस तरह इश्तिहारबाजी छठी ललित-कला बनन के लिए तेजी से अपने कदम बढ़ा रही है। इसकी शैली मे शेखी और शोखी आने लगी है और शलीकार या इश्तिहारबाज को बड-बडे इनाम दिए जाने लगे हैं। इसम इतनी ताजगी और मौलिकता आने लगी है कि यह अदब को शह सा दे ही रही है, इसे कभी-कभी मात भी कर रही है।

इसकी बेशुमार मिसालें रसाला म बिखरी पडी हैं। कुछ नमूने ही पश किए जा सकते हैं—पहले तबियत हसीना पर मचला करती थी, अब बडे तौलिये पर मचलने लगी है जो नहाने के बाद कामिनी को पूरी तरह लपेट और समेट लता है। आख से आख लडान और बचान का रिवाज नया है जिसके लिए एक काला चश्मा दरकार है। हर खूबसूरत चेहरे के पीछे पहले भी एक राज होता था, लेकिन आज यह राज राज नही रहा, यह खुलकर लेमिन नाम की क्रीम बन गया है। पहले अतिथि की सेवा, जो बिना तिथि और बिना विस्तर के आता था उसके पाव धोकर की जाती थी (उदाहरण के लिए सुदामा), लेकिन आज उसकी सेवा के लिए प्रेशर-कुकर रखना लाजमी हो गया। अब वह पदल चलकर, घोडा या रथ पर सवार होकर नही आता, वह गाडी या बस से कभी भी टपक सकता है। इसी तरह आज यह निराले अन्दाज के लिए अदा की इतनी जरूरत नही रही जितनी शिफान साडी की। जवानी पहल भी फूटती थी, लेकिन आज जवानी के साथ-साथ जो परेशानी आती है, उसे एक खास तरह की गोली या मरहम ही ठीक कर सकती है जिसस मुहासे दूर हो जाते हैं और चमडी चमकने लगती है। पहले राहो म आखो की पलकें बिछानी पडती थी ताकि इन पर गुजरकर साजन आए, लेकिन आज राहा पर कॉयर डोर मैट के सिजदे बिछने लगे हैं। पहले किसी का वश म करन के लिए वशीकरण का अनुष्ठान करना पडता था लेकिन आज खास तरह की लिपस्टिक लगाने से किसी को भी वश मे किया जा सकता है। इसी तरह पहले

भी बुढापे मे जवानी लौटाने के लिए, बालो और दिल को फिर से काला करने के लिए, दो-चार कुश्ते और टोटके थे, लेकिन आज इसके लिए इश्तिहारो की भरमार है जिनके अपने-अपने अन्दाज है। इसका एक अन्दाज चलते चलते सडक के किनारे पर सुनने को मिल जाता है। यह कभी-कभी बस में बैठे-बैठे भी मिल जाता है—यह आख का अजन नही, दात का मजन नही, रेल का इजन नही, यह काबुल का शिलाजीत है, बुढापे मे हाशियारी लाने वाला। यह शैली तुकात और अतुकात कविता के मेल का परिणाम है जिसे समान्तर कविता का नाम देना बेहतर होगा। इस जवानी अन्दाज का पाठ रात दिन रेडियो पर होता रहेगा।

मेरे पडोसी को रेडियो सुनने की आदत है। सुबह से रात तक एक-न एक स्टेशन चलता रहता है। इसकी आवज मेरे कानो में भी पडती रहती है। सूरदास का भजन मन को चैन देता है, लेकिन इसके ऐन बाद सिर दद की गोलियो का इश्तिहार चीखने लगता है। इसी तरह मीरा के भजन औषधियो के घेरे मे आ गए लगते हैं। मेरे गिरिधर गापाल के तुरत बाद —अगर आपके शरीर मे खुजली होती हो तो आप इस दवा का इस्तेमाल करें। अगर खुजली की शिकायत न भी हो तो बार-बार इसका इश्तिहार सुनने से इसकी सम्भावना हो सकती है। इन इश्तिहारो का इतना गहरा असर पडता है कि सारा देश अस्पताल मे बदलने की गवाही देने लगता है। एक और तरह के इश्तिहार यह असर पैदा करत हैं कि देश मे हुस्न का बाजार लगा हुआ है और सबके मन मे लालसा हसीन बनने की है। मेरे हुस्न का राज क्या है? एक गवाह यह कहती है—यह साबुन, दूसरी कहती है—यह क्रीम। तीसरा गवाह उनके लिए है जिनके बाल पक चुके हैं और जवान लडकियां उन्हें बाबा कहकर पुकारती हैं, जिससे इसके मन को ठेस लगती है। यह तीसरा गवाह बालो को काला करने के लिए तरह-तरह के नुस्खे सुझाने पर तुल जाता है। रेडियो पर ग़ालिब की गजल को अदा किया जा रहा है—'मौत स पहले आदमी गम से निजात पाये क्यो' के ऐन बाद अपनी जिंदगी बढ़ाने के लिए इस विटामिन का इस्तेमाल कीजिए। एक रोमांटिक गीत गाया जा रहा है—'मेरी आंखो मे बस गया कोई रे, मोहे नीद न आए मैं का करूं' के तुरन्त बाद नींद की गोलिया का इश्तिहार। इसी तरह एक गीत मे हिन्दुस्तान की कसम दिलाकर पतली कमरिया का इश्तिहार। इश्तिहारो की दुनिया मे भजन भजन नही रहे, गजलें गजलें नही रहीं, गीत गीत नही रहे। यह नया युग-बोध इस पर हावी हो गया है।

इस इश्तिहारी और मार्डलिंग की दुनिया मे हर बनी ठनी नारी का

चेहरा उसका अपना न होकर किसी चीज़ का बन गया है। एक चेहरा लिपस्टिक के इश्तिहार वाली लडकी का है, दूसरी का अमरीकी जारजट की साडी पहने युवती का, तीसरी का पाउडर वाली लडकी का और चौथा बेलबाटम वाली लडकी का। हरेक का चेहरा ठप्पेदार हो गया है जिस पर किसी-न-किसी तिजारती चीज़ का ठप्पा लग गया है। एक मोटा आदमी सडक पर चल रहा हो तो लगता है कि वह वज़न कम करने के लिए किसी क्लीनिक म जा रहा है, एक नाटा आदमी जब नज़र आता है ता लगता है कि वह कद बढाने के लिए किसी अस्पताल मे जा रहा है। इन सब चेहरो की अपनी-अपनी कीमत है। इन्सान बिकने के लिए हाट मे खडा है। एक इश्तिहारबाज़ को सारी दुनिया के इश्तिहारो मे कामिनी उसी तरह नज़र आने लगती है जिस तरह एक इश्कबाज़ को सारी कायनात मे अपनी महबूबा दीखने लगती है। उसे लगता है कि दुनिया मे इश्तहार, अखबारो, रसालो और रेडियो मे सीमित न होकर हर जगह विस्तार पाने लगेंगे। माचिस की डिबिया, रेल की टिकिट पर तो इश्तिहार हावी हो चुके है। अब इनका विस्तार जगलो के पेडो पर, कपडो पर, मेज़ो और कुर्सियो पर, टोपियो और साडियो पर, कामिनी के चेहरे पर लगना अभी बाकी है। एक लेखक का भावी के बारे म कथन है कि नोटो पर छपना अभी बाकी है जिन पर यह लिखा होगा—इसकी खूबसूरती इसकी कीमत स बढकर है, इसकी बचत कीजिए अपने लिए, अपनी सन्तान के लिए। धोतियो पर तो देवताओ के नाम भी छपने लगे हैं—हरे राम, हरे कृष्ण, लेकिन दूसरे कपडो पर नताओ और अभिनेताओ के नाम अभी छपने बाकी है। इनके नाम फिल्मो और चुनाव के निशानो के साथ छपेंगे ताकि पता चल जाए कि किस फिल्म मे उसने कौन-सा रोल अदा किया है या किस निशान पर उसने चुनाव लडा है। इसी तरह यह लेखक एक नजूमी के अन्दाज़ म कहते हैं कि विश्वविद्यालयो की डिगरियो पर यह लिखा होगा—लियाकत कुछ नही है, सिफारिश सब कुछ है, ताकि डिगरी हासिल करने वाले को कहीं अपनी लियाकत का वहम न हो जाए।

इश्तिहारबाज़ी की कला का इतना विकास होने लगा है कि यह छठी ललित-कला का रूप धारण कर रही है। हर नया इश्तिहार हर कृति की तरह मौलिक होने की गवाही देता है। यह सचित्र भी होता है। यह चाहे सुखी परिवार का है जो खास तरह के बिस्कुट खा रहा है एक सुडौल जोडे का है जो खास मिल का सूट खरीद रहा है, एक सुन्दरी का है जो क्रीम विशेष से अपने मुखडे को मोहक बना रही है, दो हिरनो का है जो

घने जगल की छाँव मे एक कारखाने के कपडो की महक फैला रहे हैं, एक हसीना के चेहरे की ताजगी का है जो नीबुओं की गधवाले साबुन से अपना मुखडा धोती है। इस तरह आज का जीवन इश्तिहारो से घिर गया है। यह इश्तिहारो का युग है जिससे निजात पाना कठिन हो गया है और एक इश्तिहारी इसान ही इसमे काबिल रह गया है, वरना उसकी हस्ती खतरे में है।

●

अपने पर हसना

इकबाल ने बड़े राज की बात की है—'नशा पिला के गिराना तो सबको आता है, मजा तो तब है कि गिरतों को थाम ले साकी।' इस वजन पर यह कहना शायद अनुचित न होगा—औरों का मजाक उड़ाना तो सबको आता है, मजा तो तब है कि अपना मजाक उड़ा ले साथी। अपनी हसी उड़ाना विरला ही जानता है। मुझे याद नहीं आ रहा है कि मैंने मीरासी का रोल अदा करना कब से शुरू किया, क्यों और कैसे शुरू किया। इतना याद आता है कि जब कभी मेरा मजाक उड़ाया जाता था तो मुझे ठेस लगती थी। कभी मेरे ठिगने कद को लेकर, कभी मेरी चपटी नाक को लेकर तो कभी मेरे लबे कानों को लेकर जानवरों से इनकी तुलना की जाती थी जिससे मुझे बौखलाहट होती थी, लेकिन जब मैं अपने बढ़िया आईने में अपनी सूरत देखता था तो इतना बुरा नहीं लगता था जितना मेरे साथी समझते थे। इस तरह धीरे-धीरे मैं इनसे कटता गया और अपने में सिमट कर अकेला होता गया। मैंने बचपन में यह पाठ पढ़ रखा था कि किसी पर चोट करना हिंसा है। इसके बाद मुझे यह भी पता चल गया कि मेरी बूढ़ी भारतीय सस्कृति, जिस पर मुझे नाज है, अहिंसावादी है। बौद्ध और जैन मत भी हिंसा की अनुमति नहीं देते।

इसलिए स्वय पर हसना अहिंसा और दूसरों का मजाक उड़ाना हिंसा है। मेरा यह भी अनुभव है कि हसने से मुसकराना बेहतर है, हसने या ठहाके लगाने से चेहरा बिगड़ जाता है और मुसकराने से यह हसीन हो जाता है। यह सभ्यता का भी तकाजा है कि हसने के बजाय मुसकराया जाए। अपने पर मुसकराना ही तो सभ्यता है। मुसकराने में सयम होता है। जवान लड़कियों के लिए खुल कर हसना खतरनाक समझा जाता है। इससे न केवल उनके चेहरों पर विकार आ जाता है, सयम भी टूट जाता है। यौवन में लक्ष्मण रेखा के पार होने पर इनका अपहरण भी हो सकता है। अगर कहीं पान चबाने या इनकी जुगाली करने की लत पड़ जाती है तो अपने

पर खुलकर हसने स वस्त्रे के दाग लगने का भ्रम है और बाहर के दाग भीतर के दागो से इसलिए अधिक अखरने वाले होते हैं कि ये दिखते हैं। मेरे एक मित्र की पत्नी की यह शिकायत है कि वह पान चबाने और खुल कर हसने के कारण तीन तीन बार दिन भर खादी की पोशाक बदलते ह और मैं इन्हे धो-धो कर परेशान हो जाती हू। वह मुझे अपने मित्र को यह समझाने को कहती हैं कि वह हसने के बजाय मुसकराया करें। इनके अगले दो दात भी टूट चुके है। क्या वह ठहाके लगाकर लोगो की वाह वाह पाने से बाज नहीं आ सकते ? मैं खुद इस बीमारी का शिकार हू— इसलिए उप देश देने मे कतराता हू, लेकिन इसे देने के लिए इसलिए मजबूर हो जाता हू कि इनके घर मे मेरा आना-जाना कहीं बन्द न हो जाए। देवी के घर मे पूरा शासन चलता है और वह अपन पति की इस कमजोरी का बोझ इनके मित्रो के कधो पर लादती है। मेरे मित्र का जवाब इतना गभीर है कि यह देवी की खोपडी स बाहर है—मुसकराने से तनाव शिथिल तो हो सकते ह, लकिन खुल नही सकते। अश्वत्थामा के तनाव वध करने से खुलते ये और हसने और अपने पर हसने से खुलते है। मैं अपन मित्र के मत का इसलिए कायल हू कि मैंने तम्बाकू के सेवन करने की आदत डाल रखी है, लकिन मुझे घर म टोकने वाली नही है। पत्नी या धोबिन के अभाव मे मैं अपने दागी कपडे धोबी से धुलवाता हू और इस तरह की शिकायत से बच निकलता हू।

अपने पर हसना भी तरह-तरह का होता है। एक किसम का हसना वह है कि बात अपनी बना कर की जाए और लगे दूसरो को चोट अपन पर की जाए और पडे दूसरा पर। उस पल दूसरो को यह लगे कि मैंन अपना मजाक उडाया है और घर पहुच इन्हे यह लगे कि चोट उन पर भी की गई है। अगर चोट लगाने के बजाय मीठी चुटकिया ली जाए तो यह बेहतर साबित हो सकता है। इन्हें वही महसूस कर सकता है और समझ सकता है जिसकी खोपडी खाली न हो या गेंडे की खाल की तरह यह मोटी और सख्त न हो। इस तरह का हसना या मुसकराना सीधा और सरल नही होता, कबीर की उलट बासी की तरह जटिल होता है। इसम सत अपने अहम् पर चोट करने से साधक की हवा निकालता है ताकि वह कही गुब्बारे की तरह फूलकर अपच का शिकार न हो जाए। अपना मजाक उडाकर दूसरो को होस मे लाना होता है, दयमारा की जवान मे गिरतों को थामना होता था। फूले गुब्बारे की हवा तो काटे की चुभन से निकल सकती है, लेकिन कुछ हस्तियो की खोपडी इतनी मजबूत होती है कि इसमे काटे की नोक खुद टूट जाती है और

अपने पर हसता, अपने पर हसता ही रह जाता है। इन लोगो के सामने मैं अपना मजाक नही उडाता, अपने को छोटा नही करता। इनके लिए तो सुनार ठकठक बेसूद हैं, लुहार का हथौडा ही काम म लाया जा सकता है जो मेरे पास नहीं है। इनकी नहीं सूझ इनकी मोटी चमडी म सुरक्षित होती है जहा मीठी चुटकी पहुच नही पाती। इनसे परहेज करना बेहतर जान पडता है।

एक और तरह का हसना होता है जो अपनी हर बात की दाद देने के लिए है बात चाहे कितनी बेमतलब क्यो न हो। इसमे विदूषक का भोडापन होता है जो भारतीय नाट्य-परम्परा का अभिन्न अग है। अपने माटाप को लेकर या मिष्टान्न को लेकर शेखी बघारना इस देश की गम्भीरता की देन है। मेरे देश म बात तो आत्मज्ञान की बात की जाती है, लेकिन अपने गरेबान म झाकने का साहस बहुत कम है। इस बटोरने के लिए साधना करनी पडती है, समाधि म जाने के बजाय अपने आस-पास म जाना पडता है जो विषमताओ से अटा पडा है। इन विषमताओ का सामना या तो रो रुलाकर किया जा सकता है या हस-हसा कर किया जा सकता है। अरस्तू की भाषा म इस विरेचन कहा जाता है। रोन रुलाने का ढग त्रासदीय है और हसने-हसाने का कामदीय। मीरासी काम यह है कि वह स्थिति के अनुरूप अपना मजाक उडाए, अपनी दास्तान को दिलचस्प बनाए। मैंने तरह तरह के चटकुलो का सकलन कर रखा है और आपबीती के रूप म कभी इश्कबाज का मनोरजन करता हू तो कभी चुनावबाज का, जब वह इश्क या चुनाव की बाजी हार जाता है। कभी-कभी स्थिति जटिल हो जाती है जब मेरे मित्र की बीबी दूसरे से इश्क लडाने पर तुल जाती है। उसे दिलासा देने के लिए हितोपदेश का सहारा लेना पडता है जिसके एक श्लोक मे उपदेश दिया गया है कि कलम किताब और औरत का भरोसा करना हिमाकत है। जब मैंने अपना कलम या अपनी किताब उधार म दी है तो वह लौटकर नही आई है। यही हाल बीबी का है। अगर उसे किसी के साथ सैर करने, बाजार करने या सिनेमा जाने दिया जाए तो बाद मे पछताना बेकार है। इकबाल ने कहा है— तू शाही है, परवाज तेरा काम है। इस रोज शब उलझ कर न रह जा। तेरे सामने आसमा और भी है।' मेरे मित्र को इससे राहत मिल जाती है। इस तरह आज के तनावो को झेलने के लिए, विषमताओ से जूझने के लिए और अपना सतुलन कायम रखने के लिए कभी हसी से काम लेना पडता है तो कभी मुसकराहट से। कभी अपना मजाक उडाना पडता है तो कभी खिल्ली उडाना ताकि दूसरा का मन स्वस्थ हो जाए।

भारत मे मीरासी के पेशे को घटिया समझा गया है, व्यग्य को साहित्य में नीचे रखा गया है। मेरे देश मे इसका इतना विकास नही हो पाया जितना विदेश म। इस देश मे गगा बहती है जिसके पावन जल से सब ताप और पाप धुल जाते हैं। इसलिए हसी मजाक की यहा कम गुजाइश है। मुझे मीरासी और मसखरा भाता है जो छोटी बात को गभीरता स लेता है और बडे मसले से परहेज करता है। उसे इस बात की परवाह नही है कि अगला जन्म है या नही। अगर है तो ठीक है और अगर नही है तो भी ठीक है। इसी तरह खुदा के होने या न होने मे अन्तर नही पडता। उसकी दिलचस्पी तो खान पीने और बतियाने में है। वह अपने पाव पर चलने के बजाय सर के बल पर चलता है जो आस पास के बारे मे उसकी नजर बदल देती है। वह खुद भी हसता है और दूसरो को भी हसाता है। दुनिया का सबसे बडा मसखरा चार्ली चेपलिन माना जाता है। वह खुद भी बनता रहा है और दुनिया को भी बनाता रहा है। मसखरेपन का बोध मुझे बहुत पहले हो गया था जब रिसाले मे मैंने कभी पढा कि हसी मे सब विटेमन होते हैं। आज विटेमनो का रिवाज भी बढ गया है, लोग दाल नही खाते, विटमन खाते हैं, दूध नही पीते विटेमन का सेवन करते हैं। आज हरी घास मे भी विटेमन 'सी' को खोजा और पाया जा रहा है घास का सालन चाहे लजीज हो या न हो। एक बार मुझे किसी के साथ दावत पर जाना पडा। मेहमाननिवाज न उबली पालक और भाप मे पकी दाल खाने पर रखी, जिन्हे देखकर मेरे मासखोर दोस्त का मन उदास हो गया। मैंने दोनो का दिल रखने के लिए विटेमन ए और सी के पुल बाधने शुरू कर दिए जिससे स्थिति थोडा सुधरने लगी।

मेरा पडोसी जो बडे गभीर स्वभाव का है, इस तरह की नई खोजो से परिचित है। अपनी बोरियत को कम करन के लिए मुझे वह इनकी जानकारी देने पर तुल जाता है। इस तरह खुश्क मिजाज न केवल अपनी जान पर, बल्कि दूसरे की जान पर हावी हो जाता है। वह दुनिया के बारे मे अपना मुह लटकाए रहता है और दूसरो का मुह लटकाने से बाज नही आता। अगर उसकी सुनता हू तो मुसीबत और अगर नही सुनता हू तो मुसीबत। मेरे पास एक ही चारा रह जाता है—खुद हसना और उसे हसाने की कोशिश करना, खुद बनना और उसे बनाना जिसे वह भाप नही पाता। यह खोजी दूसरो की खोजो पर जीता है। आखिर मुझे अकबर का कलाम याद आने लगता है—खुदा देता है खाना शेखजी पीने नही देते। इस वजन पर कहना पडता है—खुदा दता है हसना और वह मुझे हसने नही देते।

जिन्हें उसने कहीं से एकत्र कर रखा था। वह इन वाक्यों को समय असमय पर दोहराता रहता था—'मैं तुम्हारे बिना रह नहीं सकता, मुझे रात को नीद नहीं आती, अगर तुम मुझसे मुहब्बत नही करोगी तो मैं नदी में या झील म छलांग लगा दूगा।" आज की युवती को इन वाक्यो को सुनने की आदत पड चुकी है। वह जानती है कि रात को जागने वाले दिन को गहरी नीद सोते हैं। आत्मघात करने की धमकियो म सार नही होता। इस तरह आज का कुमार प्रणय निवेदन की बात कह तो देता है, लेकिन उसे कहने का ढग नही आता। चिरकुमार और चिरकुमारी को मुहब्बत से डर लगता है। इन्हें चिरकाल से अकेले रहने की आदत पड चुकी होती है। एक दूसरे के निकट आने से इन्हें सकोच होता है। एक दूसरे के पास आकर भी फिर दूर हो जाते हैं। इनके मन मे यह भय होता है कि प्रणय निवेदन कहीं स्वीकृत न हो जाए। विवाहित और अविवाहित में प्रणय निवेदन खतरे से खाली नही होता। इनकी तीन कोटियां बन सकती हैं—आदमी शादी शुदा और औरत कुआरी है, औरत की शादी हो चुकी है और आदमी कुआरा है, दोनों शादी शुदा हैं। इसमे विधुर और विधवा को फिलहाल शामिल नहीं किया गया है। भारत में आदमी और औरत मे मित्रता की परम्परा अभी विकसित नही है। इस तरह तिकोन और चारकोन की स्थिति मे प्रणय निवेदन कितनी उलझनें पैदा कर सकता है इसका अनुमान लगाना कठिन है। बात कहते ही तलाक, सन्तान कानून, समाज इतना टूट पडता है कि वह कुचली जाती है।

ऐसा भी होता है कि कभी-कभी लोग फिल्मो और कहानियों के प्रणय निवेदन को अपने जीवन मे आजमाना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कहानी और असली जीवन मे कितना अन्तर होता है। एक बार एक विवाहित नारी ने मुझे यह बताने का साहस किया कि उसके प्रेमी ने पाश्चात्य उपन्यासो से प्रणय निवेदन की शब्दावली को रट रखा था। वह और बातें तो अपनी भाषा म करता था जो सहज लगती थी और प्रेम की बात वह अग्रेजी मे करने लगता था जिससे बनावट की गन्ध आती थी। यह शायद इसलिए कि लव इस तरह का ही सकता है, लेकिन प्रेम मे पावनता होती है। जब वह अपने प्रेमी से अपने तलाक की बात चलाती थी तो वह मौन हो जाता था। उसे लगता था कि उसका प्रेम निवेदन झूठा था। वह महज बात करने के लिए बात करता था। वह नही जानता था कला के लिए कला का युग बीत गया है। इस तरह अधिकाश स्थितियों मे बात दब कर रह जाती है।

आज के युग मे यह परम्परा दिनोदिन बढ रही है। लडका और

लडकी अपने जीवन-साथी खुद चुनना चाहते हैं, लेकिन मुश्किल यह पडती है कि न तो उनके पास बात होती है और न ही बात करने का ढग। क्या इसकी तालीम नही दी जा सकती ? जब इतने कालेज खोले जा रहे हैं तो इसके लिए कालेज नही खोला जा सकता ? अगर यह सम्भव नही है तो पत्राचार के माध्यम मे इसकी तालीम नही दी जा सकती ? यह सुनने मे आया है कि समलिंगियो मे मुहब्बत इसलिए गहरी होती है कि इसका नतीजा नही निकलता और नतीजा महगा पडता है, लेकिन कानून इसके खिलाफ है। पुराने युग मे तो शादी पहले होती थी और मुहब्बत बाद मे, अगर यह जरूरी हो। नापित की सेवा से साथी का चयन किया जाता था। वह शिकार खेलने के काम मे माहिर होता था। आज युवक और युवती खुद शिकार इसलिए करना चाहते है कि मरे शिकार मे लज्जत नही होती, लेकिन इनको न तो बन्दूक चलानी आती है और न ही गोली दागनी आती है। यहा तक कि केडिट कोर के लडके लडकियो को भी इस कला मे कुशलता हाथ नही लगती। इनकी बन्दूको और कारतूसो को जग ही लग जाता है और प्रणय निवेदन की बात धरी की धरी रह जाती है। असल म प्रणय निवेदन की बात इतनी सीधी और सरल होती है कि इसे तूल देना पडता है पेचदार बनाना पडता है ताकि इसमे वजन आ सके। आज महानगरो मे फासले इतने बढ गए ह कि एक-दूसरे को मिलना न केवल कठिन हो रहा है, महगा भी पडने लगा है। इसलिए शायद अमरीका के महानगरों म अब मुहब्बत फोन पर होन लगी है। अगर चेहरे भी फोन पर आने लग जाए ता इस कला का नया आयाम मिल सकता है। प्रणय-निवेदन के बाद ही मिलन की आवश्यकता पडेगी या नही पडेगी।

पुल और जगमगाते सितारा की है जो धरती और आकाश दोनो को रोशन करते हैं।

मेरे लिए शिमला की याद एक शहर की न होकर उसके एक टुकडे की है जिसे पहले माल रोड कहते थे, लेकिन अब जिसका नाम डाकखाने मे तो लाजपत राय रोड है, पर जबान पर माल रोड ही चढा हुआ है। यह शाम को चहकने लगती थी, दिन की थकावट और बोरियत को कम करने के लिए चारो तरफ से सारा शिमला सडक के इस टुकडे पर पहुच जाता था जहा खूबसूरत साडिया और सलवारो मे युवतियो, अधेडो और बूढियो तक को इठलाते, हसते-मुसकराते देख कर शाम के पहले पहर मैं घर लौट जाता था। आज से बीस साल पहले चुस्त कपडो का रिवाज नही था। इस टुकडे पर सब लोग दस-दस, बीस-बीस चक्कर काटते थे, लेकिन यह एहसास किसी को नही होता था कि यह हिमाकत है। एक बार मुझे याद है कि एक बहुत बडे आदमी ने पीछे से मेरे कधो पर अपना हाथ रखकर यह पूछ कर मेरा मजाक उडाना चाहा—"क्या देख रहे हो ?" बिना किसी झिझक के इतना ही उन से कहने का साहस कर सका—"जो आप देख रहे हैं।" और ठहाका लगाकर वह आगे चल दिए। न किसी से मिलने मे इतनी खुशी कि यह बाहर फूट पडे और न बिछुडने मे इतनी गमी कि आखे नम हो जाए। यहा बिना इजाजत लिए लोग आपस मे मिलते और अलग होते जाते थे। यह गरमियो की बात है जब सैलानी इस शहर मे पतगो की तरह आ टपकते थे और इन की तरह ही गायब हो जाते थे। रौनक उठ जाती थी, मेला उजड जाता था। इसके बाद मैं और मेरा शिमला रह जाता था—यानी माल रोड का एक टुकडा। इस सडक के टुकडे पर शाम को अचानक कुछ लोग मिल जाते तो वे एक दूसरे से बिछुडने का नाम नही लेते थे। इस तरह सर्दियो की उजाड मे सूनेपन का एहसास गरमियो की भीडो की तरह सतही न होकर गहराने लगता था, एक दूसरे के पास आने की आवश्यकता बरफानी मौसम मे बढने लगती थी।

अगर किसी दिन धूप निकल आती तो शहर की जिन्दगी को गरमा देती थी और इधर-उधर से रिटायर्ड आदमियो की टोलिया बेंचो पर बैठ कर पछियो की तरह चहकती नजर आने लगतीं थीं। अगर कभी इनके पास खडे होकर धूप सेकने का अवसर मिल जाता तो इनका चहकना शिकायतो और शिकायतो के रूप मे सुनाई पडने लगता था। एक को शिकायत यह कि अब उसे घर मे पूछा नही जाता कदर नहीं की जाती। यह जमाने मे गिला था। एक और अपनी दास्तान सुनाते-सुनाते इस नतीजे पर तान तोडते थे कि आज घूसखोरी इतनी बढ गई है कि देश पाताल को

मेरी याद मे

कुछ लोगो को शहर रात की बाहो मे याद आते है लेकिन मुझे शिमला दिन की रोशनी मे या शाम की रगीनी मे या बरफीली ठण्ड मे कभी-कभी याद आता है जो अब शिमला की बरसाती धुध की तरह धुधलाने लगी है। मेरा वहा जाना और लगातार तीन साल जम जाना एक सैलानी का सैर के लिए जाना नहीं था, एक उखडे हुए आदमी का था जो देश के विभाजन के बाद एक नई नौकरी करने के लिए वहा पटका गया था। इसलिए मेरी याद मे शिमला अगर रोमानी रग मे रगा हुआ नही उतरता और अपने असली रग म सामने आता है तो यह मेरी दृष्टि का दोष है। शहर और भी हैं शिमला के सिवाय और पहाडी शहर और भी हैं इसके सिवाय, लेकिन इसकी अपनी निजता है इसका अपना इतिहास है और अब भी इसकी अपनी जगह है।

जब शहरो को रात की बाहो म पकडा जाता है तो इनकी याद एक तरह की होती है और जब इनको दिन की रोशनी मे देखा जाता है तो यह और तरह की हो जाती है। अगर बम्बई को रात की बाहो मे लिपटी देखा जाए तो यह एक को काली बाहो म लेटी हसती नजर आती है, एक दूसरे को दिल्ली बेहूदा नजर आती है जहा बात कायदे से नही होती, दिन अभी बीत नहीं पाता कि अचानक रात हो जाती है। सैलानी को श्रीनगर पहाडो के प्याले म लेटा हुआ नजर आता है और ममता के उभरने पर यह एक शिशु बन जाता है जो मा के सीने से लेट कर दूध पी रहा है। इसी तरह नैनीताल की याद जब किसी को सताती है तो वह उसकी रात की रौनक है चहल-पहल है मुसकराती हसती सडकें है। शहर और भी हैं जिनकी अपनी-अपनी यादें हैं। लखनऊ की याद सावन की झडी की है जब वहा साप निकल आते हैं इलाहाबाद की याद एक उदास और छितराए हुए शहर की है जहा बहुत धीरे स शाम आती है और बहुत खामोशी से रात उतरती है जिन्दगी धीरे धीरे सरकती है, कलकत्ता की याद हावडा

पुल और जगमगात सितारा की है जो धरती और आकाश दोनो को रोशन करते हैं।

मेरे लिए शिमला की याद एक शहर की न होकर उसके एक टुकडे की है जिसे पहले माल रोड कहते थे, लेकिन अब जिसका नाम डाकखाने मे तो लाजपत राय रोड है, पर जबान पर माल रोड ही चढा हुआ है। यह शाम को चहकने लगती थी, दिन की थकावट और बोरियत को कम करने के लिए चारो तरफ से सारा शिमला सडक के इस टुकडे पर पहुच जाता था जहा खूबसूरत साडियो और सलवारो मे युवतियो, अधेडो और बूढियो तक को इठलाते, हसते-मुसकराते देख कर शाम के पहले पहर मैं घर लौट जाता था। आज से बीस साल पहले चुस्त कपडो का रिवाज नही था। इस टुकडे पर सब लोग दस दस, बीस-बीस चक्कर काटते थे, लेकिन यह एहसास किसी को नही होता था कि यह हिमाकत है। एक बार मुझे याद है कि एक बहुत बडे आदमी ने पीछे से मेरे कधों पर अपना हाथ रखकर यह पूछ कर मेरा मजाक उडाना चाहा—"क्या देख रहे हो ?" बिना किसी झिझक के इतना ही उन से कहने का साहस कर सका—"जो आप देख रहे हैं।' और ठहाका लगाकर वह आगे चल दिए। न किसी से मिलने मे इतनी खुशी कि यह बाहर फूट पडे और न बिछुडने मे इतनी गमी कि आखें नम हो जाए। यहा बिना इजाजत लिए लोग आपस मे मिलते और अलग होते जाते थे। यह गरमिया की बात है जब सैलानी इस शहर में पतगो की तरह आ टपकते थे और इन की तरह ही गायब हो जाते थे। रौनक उठ जाती थी, मेला उजड जाता था। इसके बाद मैं और मेरा शिमला रह जाता था—यानी माल रोड का एक टुकडा। इस सडक के टुकडे पर शाम को अचानक कुछ लोग मिल जाते तो वे एक-दूसर से बिछुडने का नाम नही लेते थे। इस तरह सर्दियो की उजाड मे सूनपन का एहसास गरमियो की भीडो की तरह सतही न होकर गहराने लगता था, एक-दूसरे के पास आने की आवश्यकता बरफानी मौसम मे बढने लगती थी।

अगर किसी दिन धूप निकल आती तो शहर की जिन्दगी का गरमा देती थी और इधर-उधर से रिटायड आदमियो की टोलिया बेंचो पर बैठ कर पछियो की तरह चहकती नजर आने लगती थीं। अगर कभी इनके पास खडे होकर धूप सेकने का अवसर मिल जाता तो इनका चहकना शिकायतो और शिकयता के रूप मे सुनाई पडने लगता था। एक को शिकायत यह कि अब उसे घर मे पूछा नहीं जाता, कदर नहीं की जाती। यह जमाने से गिला था। एक और अपनी दास्तान सुनाते-सुनाते इस नतीजे पर तान तोडते थे कि आज घूसखोरी इतनी बढ गई है कि देश पाताल को

जा रहा है। रिश्वत मैं भी लेता था, लेकिन कायदे से। एक और की शिकायत यह होती कि शिमला का पानी भारी पड़ता है और पट मे हवा रहती है। हर बूढ़ा नीम हकीम इसे दूर करने का अपना-अपना नुस्खा पेश करने लगता जो अदरक के चबाने से लेकर अजवायन और हींग के सेवन का सुझाव देता था और कभी-कभी कुछ दिनो के लिए पहाड से नीचे उतरने का मशविरा भी। इस तरह धूप मे बैठी शिमला की टोलिया अपने अतीत को लेकर घटो बतियाती थी और बुढापे मे, जब न आज साथ देता है और न ही आने वाला कल, तो बीती याद के सिवाय और सहारा ही क्या है। एक रिटायर्ड आदमी ने अपनी टोली मे आना अचानक बन्द कर दिया और पूछने पर पता चला कि हर साल उसे यह सूचना पाकर झटका लगता था कि उसकी टोली का एक सदस्य कूच कर गया है और इस तरह के झटके बुढापे मे खतरनाक साबित हो सकते हैं। वह सैर करना बतियाने से बेहतर समझने लगा। इससे पेन्शन पाने की अवधि बढती थी। इस सूझ-समझ की याद शिमला से जुडकर अब तक मिटी नही है। इस तरह धूप सेंकनी बूढ़ो की टोलिया इस शहर की निजता को लिए हुए थी।

इस धूप मे बालको के दल जब बरफ से खेलने के लिए रिज पर पहुच जाते थे तो वे एक दूसरी तसवीर खीच देते थे। आज मे ये खिलखते वाले बालक किस तरह अतीत पर जीने वालो से अलग होते हैं, कलिया मुरझाय फूल से किस कदर ताजगी लिए होती हैं। युवा-युवतियो के झुड भी बरफ से एक-दूसरे पर गोलाबारी करते जब रिज पर पहुच जाते तो सरदी के मौसम को बहार म बदल देते थे। इस तरह रिज पर सरदी, बहार और खिजा तीनो का एक साथ सयोग शिमला की याद को ताजा कर देता है। इसकी झडी का अहसास अपने रग लिए हुए है। आमतौर पर रोज पानी पडता था, लेकिन पता नही क्यो यह शाम को बाकायदा बन्द हो जाता था। यह शायद इसलिए कि दिन भर अपनी साडियो और सलवारो को प्रेस करती युवतियो और बुढ़ियो को कहीं निराशा न हो जाए और माल रोड पर अपनी रगीनी दिखाने का अवसर न खो जाए। इसे देख कर एक नास्तिक भी आस्तिक बनने पर लाचार हो सकता है। इनके लौटने के बाद फिर वही मूसलाधार बरसात शुरू हो जाती थी। बरसात की गहरी धुप और सूरज के छिपने पर बादलो की छवियां एक कवि नही तो काव्यकार तो बना ही सकती थी। इनके साथ शाम के ढलने पर अगर झींगुर की झकार मिल जाती थी तो छायावादी कवि बनने से उसे कौन रोक सकता था। आमू की बालिका भी एक पहाड़िन युवती होगी, लेकिन इससे शिमला म मिलना कहा हो सकता था जिसकी सुषमा पफ-पाउडर की थी,

जिसमे खुशबू होती थी और जो माल रोड को महका जाती थी। हर शहर की सडको को यह महकाती है, लेकिन शिमला की बात निराली थी। इतनी सुगन्ध इतने छोटे टुकडे पर ? अगर यह किसी को नही लुभाती थी तो दोष सुगन्ध का न होकर उसकी नाक का होता था जो बडी होकर सिकुडना ही जानती थी। इस तरह शिमला की याद कभी नाक में, तो कभी आख मे बसने वाली थी और नाक और आंख के कमज़ोर पडने पर इसकी याद भी धुधलाने लगी है। अगर बडी मेहनत से किसी की याद ताज़ा करनी पडे तो उसका यही नतीजा निकलता है। यह दिमागी और किताबी बनकर रह जाती है। शिमला मेरे बचपन और लडकपन की याद नहीं है जो मिटने मे नही आती। ●

जब मैं जवान था

'जब मैं जवान था' का मतलब यह है कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूं या बूढ़ा समझा और माना गया हूं। एक पुराना दृश्य मेरी आंखों के सामने ताजा हो रहा है। बुढ़ापे में इन्सान विगत पर से इसलिए जीता है कि उसके पास न तो आगत का सहारा होता है और न ही अनागत का। शाम के समय एक रेढ़ी वाला बर्तन में पकौड़े शुद्ध सरसों के तेल में तल रहा था और शुद्ध तेल इसलिए कि वह इतना महंगा नहीं था जितना आज है। एक बूढ़ा, जिसकी दाढ़ी पूरी तरह सफेद हो चुकी थी, तले पकौड़ों को टटोल रहा था कि वे कहीं ठण्डे तो नहीं पड़ गये थे। इतने में चार-पांच ग्राहक रेढ़ी के आस-पास खड़े हो गये और बूढ़ा एक-एक पकौड़े को चुन रहा था। रेढ़ी वाले ने खीजकर उसे इतना ही कहा—बाबा, थोड़ा उधर सरक जाओ कि वह आग-बगोला होकर उसे गालियां देने लगा—बाबा तेरा बाप, बाबा तेरा ... । कवि केशवदास को केवल इस बात का रंज था कि जवान लड़कियां उसे बाबा-बाबा कह कर पुकारती थीं, एक कवि होने के नाते वह गालियां देना नहीं जानता था। मुझे जब बूढ़ों में शामिल किया गया है तो न मुझे गाली देनी आती है और न ही मुझे इसका रंज है। मैं कवियों की कतार में खड़ा होने का अधिकारी भी नहीं हूं कि हफीज जालंधरी की तरह मैं जवानी के गीत गा सकूं—

अभी तो मैं जवान हूं
हवा भी खुशगवार है, गुलों पे भी निखार है
तरन्नुमे हज़ार है, बहार पुर-बहार है—
कहां चला है साक़िया
इधर तो लौट इधर तो आ
अरे ये देखता है क्या
उठा सुबू, सबू उठा

एक शायर ही शेख को यह चुनौती दे सकता है—

मगर सुनो तो शेख जी
भला शबाबो-आशिक़ी
अलग हुए भी हैं कभी

चलो जी क़िस्सा मुख्तसर, तुम्हारा नुक्ता-ए-नज़र—

दुरुस्त है तो हो, मगर
अभी तो मैं जवान हू ।

इस तरह का तराना एक शायर ही गा सकता है। मेरे गद्यमय जीवन म यौवन कब आया और कब चला गया, इसका मुझे एहसास नहीं है। यह सही है कि जवानी के आलम में शाम का जब अकेले घर लौटता था तो नौकर से पूछ बठता कि खान को क्या बनाया है ? जवाब मे मूग की धुली दाल का नाम सुनकर दिल बैठ जाता था साइकिल उठाकर आस-पास की गश्त लगाने का निश्चल पडता था। कहीं शादी की बारात आने वाली हो तो ज़ियाफ्त का मजा आ जायेगा। उसमे शामिल होने के लिए एक फूलमाला दरकार होती थी जिसे कभी कभी खरीदना पड जाता था ताकि बाराती होने की गवाही मिल सके। मेरी जवानी मे इस तरह की छोटी छोटी लहरें आती थी, बाढ कभी नही आयी जिसमे मैं बह गया हू।

अब शायर की जबानी इतना ही कह सकता हू—

हनूज दिल मे तमन्नाए यार बाकी है
ख़िज़ा का दौर है फिर भी बाहर बाकी हैं।

वह अजब जमाना था कि किसी लडकी से बात करना भी एक हादसा माना जाता था। अब तो आजादी के बाद लडके-लडकी मे इतना खुलापन आ गया है कि नौबत डेटिंग पर पहुच जाती है। जब मैं जवान था तो हर लडकी को कज़िन के रिश्ते से जाना और पहचाना जाता था, पुकार भी बहिन के नाम से जाता था, लेकिन अब तो रिश्ता दोस्ती का हो गया है। अगर इसका सबूत चाहिए तो हर शाम को लडकिया के यूनिवर्सिटी होस्टल के सामने एक फरलाग सडक पर गहमागहमी होती है, खुले तौर पर नौजवानो में अगली बार मिलने की तारीख निश्चित होती है। लडकिया भी बन-सवर कर मुलाकात के लिए बाहर निकलती हैं। कुछ बेचारी बाहर बैठकर इतजार करती रहती हैं—आने वाला शायद अचानक टपक पडे। मेरी जवानी म इस तरह की मुलाकातें कहा नसीब होती थी और अब खोटे नसीब किस तरह जाग सकते हैं। अब तो अकबर इलाहाबादी की जबानी—मेरे हिस्से दूर का जलवा ही रह गया है, हलवा तो आज के नौजवानो के लिए है।

अपनी जवानी की याद को जब ताजा करता हूं तो लगता है कि यह यादों की बारात न होकर यादों का जनाजा है। एक शरीफ और डरपोक बाप के शरीफ और डरपोक बेटे ने किसी लड़की को भगाया नहीं, किसी दुश्मन के दांत नहीं तोड़े (खट्टे अवश्य किये हैं) डाका नहीं मारा, चोरी नहीं की। अगर किसी लड़की के दो चार बोसे लिये होते तो इस जवानी का हंगामा नहीं कहा जा सकता। कुछ जवानी किताबी कीड़ा बनने में बीत गयी और इसके बाद कुछ लड़कियों के कालिज में पढ़ाने में जहां किसी लड़की से बात करना नौकरी को खतरे में डालना था। रही-सही जवानी आजादी के बाद फिर से पैर जमाने में कट गयी। इस तरह आज लगता है कि मैं गलत समय पैदा हुआ था। अगर देश की आजादी के बाद पैदा होता तो जवानी का लुत्फ उठा सकता था। अगर की बात करना भी उसी तरह बेकार है जिस तरह यह कहना कि 'मैं जब न था तो खुदा था, अगर न होता तो खुदा होता, इस होनी ने तो मुझे डुबाया ही है। इस तरह जवानी के दिन गर्दिश के दिन थे। इसको हवा मुझे किस तरह लग सकती थी।

इसके बावजूद मैं जवान था तो तरह-तरह के वलवले मन में उठते रहते थे। इनमें एक यह था कि विलायत पढ़ने जाऊंगा और वहां से डिग्री के साथ एक मेम भी साथ लाऊंगा। इसकी तैयारी शुरू कर दी थी। एक विलायत-पास साहब से दोस्ती गांठ ली ताकि मेज पर छुरी-कांटे से खाना सीख लिया जाए। वहां खाना खाने की अदायें किसी हसीना की अदाओं से कम नहीं होतीं। माली हालत यह थी कि सागरी जहाज से सफर करने के लिए किराया तक नहीं था। इस वलवले के साथ यह वलवला भी जुड़ा हुआ था कि मेम साहब के लिए एक कुतिया पाल ली जाये। उसे सैर करवाने के लिए यह जरूरी था। शाम को फैल्ट हैट पहन कर कुतिया के साथ घूमना उस जमाने में फैशन था। एक डॉगी पाल तो ली, लेकिन उसने मेरी बगिया को दो या तीन दिनों में ही तहस-नहस कर दिया। उसे मैंने इतना पीटा कि वह जंजीर तोड़कर आवारा कुत्तों के साथ भाग गयी। खैर हो उसकी जवानी की। इसी तरह बढ़िया चायघर में बैठकर चाय पीने का तरीका भी आना चाहिए था। एक दोस्त के साथ लाहौर के लारेंग में चाय लेना तय हुआ। दरवाजे पर खड़ा होने के बाद यह पता नहीं चल रहा था कि इसे बाहर से खोल कर दाखिल होना है या इसे अन्दर धकेल कर भीतर जाना है। दरबान ने हमारी तकलीफ को पहचान लिया और दरवाजे को अन्दर धकेल कर बड़े अदब से इशारा किया कि सामने 'पुश' लिखा हुआ है। पहली मेज पर हम विराजमान हो गये जहां बहुत कम लोग

बठना पसन्द करत थे। बैरा आदेश लने आया। पस्टरी का नाम तो सुन रखा था, लकिन इसे नोश कभी नही किया था। गाव म जलेबिया, बरफी, पडे खाने को मिलते थे। बरे को पेस्टरी और चाय का आदेश दकर चुप चाप बैठ गए। इधर उधर झाकना बुरा समझा जाता था। हम दम साधे बैठे थे कि वह एक पेस्टरी से भरी प्लेट ले आया। जेब मे पैसे कम थे। उसे जब आधी प्लेट वापिस ले जाने के लिए कहा तो जवाब मिला कि पैसे उतने ही लगेंगे जितनी हम खायेंगे। जब मैं कागज समेत पेस्टरी का टुकडा मुह मे रखने लगा तो साथी न मुस्करा कर इशारा किया कि कागज उतार कर इसे खाना हाता है। आस-पास देखा तो लगा कि मेरी हरकत का किसी न नोट नही किया था। इससे इतनी राहत मिली कि इसका बयान आज तो कर सकता हू, लेकिन जवानी के आलम मे करना तौहीन होती। इस आयु मे मन बडा सवदनशील होता है।

जब मैं जवान था तो हर हिदुस्तानी मुझे जाहिल नजर आता था, हर विलायती चीज़ मन को भाती थी। यह एक दौर था जिससे मैं गुज़र चुका हू। पायजामा स पतलून बेहतर लगती थी, पगडी से हैट, रोटी से डबल रोटी, शोरबा मे सूप। इस हालत का बयान अकबर इलाहाबादी ने मीठी चुटकिया ले-ले कर किया है—

रकीबो न रपट लिखवायी है जा-जा के थाने मे
कि 'अकबर' नाम लेता है खुदा का इस ज़माने मे
हम ऐसी किताबें काबिले-ज़ब्ती समझत हैं
कि जिन को पढ के लडके बाप को खब्ती समझते हैं

यह सही है कि मैं बाप को खब्ती तो नहीं समझता था, लेकिन पुरखो को जाहिल, समझता था। पुरखे जूता पहनते थे और मैं डासन का बूट पहनता था। आज की नयी पीढी मेरे जैसो को अगर खब्ती कहती है तो यह उसका अधिकार है और बडो की यही नियति है। ●

जाते हैं तो चित्रगुप्त मेरा पांचवां अभिनन्दन परलोक में करवा देगा। चित्रगुप्त कौन है जिसने मुझे यह आश्वासन दिया है। आपने सुना होगा कि हर इन्सान के कन्धों पर दो फरिश्ते बैठे रहते हैं—एक उसकी नेकियों को बही में चढ़ाता रहता है और दूसरा उसकी बदियों को। अगर पहले का पलड़ा भारी होता है तो इन्सान को जन्नत में भेजा जाता है और अगर दूसरे का भारी होता है तो उसे दोजख में पटका जाता है। आज फरिश्तों को बड़ी मुश्किल पड़ रही होगी। एक शायर की जबानी—'नेकी और बदी के खानों की हर रोज लकीरें मिटती हैं जिन्दा दुनिया की नजरों में मीजान बदलते जाते हैं।' इसी तरह चित्रगुप्त ने भी बही खाता खोल रखा है। मुझे विश्वास है कि पांचवें अभिनन्दन पर आप सब को वह बुलावा देगा जो यहां मेरी भाषणबाजी बरदाश्त कर रहे हैं।

आप जानते हैं कि उपहार और पुरस्कार में भारी अन्तर होता है—उपहार वैयक्तिक और पुरस्कार सामाजिक। मुझे सब भाषाओं का तो पता नहीं, लेकिन हिन्दी के बारे में इतना जानता हूं कि इन दिनों पुरस्कार अक्सर हथियाए जाते हैं। इनकी न केवल तादाद बढ़ रही है, रकम भी बढ़ रही है। जमाना महंगाई का है। पुरस्कार सरकारी भी हैं और गैर सरकारी भी। यह नई बात भी नहीं है। हर युग में सत्ता लेखकों और कलाकारों को खरीदती रही है और वे बिकते रहे हैं। कभी अपनी हुकूमत का कायम रखने के लिए, कभी सामाजिक विधान को सुरक्षित रखने के लिए। कालिदास को राजपाट मिला था और बिहारी को एक एक दोहे पर एक-एक अशरफी मिली थी। उन दिनों सोना सस्ता था। आजकल चेक का रिवाज है। सरकारों और सेठों के अपने-अपने ढंग हैं। पुरस्कार पाने वाला अपनी विजय पर इसलिए खुश है कि उस पर सेठ ने उसके साहित्यकार होने की अपनी मोहर लगा दी है और हकूमत ने उस पर ।। चिपका दी है। वह यह नहीं जानता कि मोहर की स्याही । है, उड़ जाने वाली है और सरकारी टिकट पर गोंद पतली है, वाली है। पुरस्कार न पाने वाला इसलिए जलता है कि उसका हो गया है। वह यह नहीं जानता कि हर युग में महान लेखक गया है। वह चाहे कालिदास हो या भवभूति, शेक्स-, गालिब हो या निराला। शायर इकबाल की यह

से नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती है।
।। चमन में दीदावर पैदा।

भी निकल जाते हैं जो पुरस्कार पाकर भी सरकार

अभिनन्दन और अभिनन्दन

मेरा चौथा अभिनन्दन हो रहा है और हो कर रहेगा। इसलिए कि मैंने इसे करवाया नहीं है। आजकल अपना अभिनन्दन करवाने का रिवाज उसी तरह जोर पकड़ रहा है जिस तरह अपनी नई किताब पर विचार गोष्ठी करवाने का। मुझे बताया गया है कि राजधानी में कुछ लोगों ने यह धंधा अपना लिया है। वह लेखकों से पूछ लेते हैं कि कितने की गोष्ठी करवानी है। इसके मुताबिक वह जगह, जल पान, निमन्त्रण पत्र छपवाने का इन्तजाम कर देते हैं। यहां तक कि किताब पर लेख भी लिखवा लेते हैं। मुझे एक रोचक घटना याद आ रही है। एक बड़े आदमी के सिर पर अपना अभिनन्दन करवाने का भूत सवार हो गया। वह साठ साल के हो चुके थे और इस अवसर को खोना नहीं चाहते थे। मुझे भी इसमें शामिल होने का गौरव मिल गया। वह मंच पर एक एक को बुलाकर अपनी तारीफ में तकरीरें करवा रहे थे और इस तरह खुद अपने अभिनन्दन का संचालन कर रहे थे। बेचारा सदर इनका मुंह ताक रहा था। ऐसे अवसर पर एक स्मारिका भेंट करने का रिवाज है। एक रेशमी रुमाल में लिपटी और लाल फीते में बंधी स्मारिका भेंट की गई। यह एक ही काम सदर ने किया। मैं इसे देखने के लिए इसलिए बेताब था कि इसमें मेरा एक लेख छपना था। इस बड़े आदमी ने मुझे इसे खोलने नहीं दिया और कहा कि यह केवल कोरे कागजों का पुलिन्दा है, किताब बाद में छपेगी। यह तो एक पुरानी दिलचस्प वारदात है।

मेरा पहला अभिनन्दन पंजाब सरकार ने एक साहित्यकार या शिरोमणि साहित्यकार के नाते कर दिया था जो एक भूल थी दूसरा मेरे दोस्तों ने मेरे सठियाने पर कर दिया तीसरा मेरे अजीजों ने मेरे बहत्तराने पर कर दिया। यह चौथा अभिनन्दन मेरी समझ से बाहर है। यह शायद मेरी समझ के चूक जाने को मनाने के लिए किया जा रहा है। या यह शायद इसलिए किया जा रहा है कि अगर मेरे चार अभिनन्दन इस साथ में हो

जाते हैं तो चित्रगुप्त मेरा पाचवा अभिनन्दन परलोक मे करवा देगा। चित्रगुप्त कौन है जिसने मुझे यह आश्वासन दिया है। आपने सुना होगा कि हर इन्सान के कन्धो पर दो फरिश्ते बैठे रहते हैं —एक उसकी नेकियो को बही में चढाता रहता है और दूसरा उसकी बदियो को। अगर पहले का पलडा भारी होता है तो इन्सान को जन्नत मे भेजा जाता है और अगर दूसरे का भारी होता है तो उसे दोज़ख मे पटका जाता है। आज फरिश्तो को बडी मुश्किल पड रही होगी। एक शायर की जबानी—'नेकी और बदी के खानो की हर रोज लकीरें मिटती है जिन्दा दुनिया की नजरो मे मीज़ान बदलते जाते हैं।' इसी तरह चित्रगुप्त ने भी बही खाता खोल रखा है। मुझे विश्वास है कि पाचवें अभिनन्दन पर आप सब को वह बुलावा देगा जो यहा मेरी भाषणबाज़ी बरदाश्त कर रहे हैं।

आप जानते हैं कि उपहार और पुरस्कार मे भारी अन्तर होता है—उपहार वैयक्तिक और पुरस्कार सामाजिक। मुझे सब भाषाओ का तो पता नहीं, लेकिन हिन्दी के बारे म इतना जानता हू कि इन दिनो पुरस्कार अवसर हथियाए जाते है। इनकी न केवल तादाद बढ रही है, रकम भी बढ रही है। जमाना महगाई का है। पुरस्कार सरकारी भी है और गैर सरकारी भी। यह नई बात भी नही है। हर युग मे सत्ता लेखको और कलाकारो का खरीददती रही है और वे बिकते रहे हैं। कभी अपनी हुकूमत को कायम रखने के लिए, कभी सामाजिक विधान को सुरक्षित रखने के लिए। कालिदास को राजपाट मिला था और बिहारी को एक एक दोहे पर एक एक अशरफी मिली थी। उन दिनो सोना सस्ता था। आजकल चेक का रिवाज है। सरकारो और सेठो के अपने-अपने ढग हैं। पुरस्कार पाने वाला अपनी विजय पर इसलिए खुश है कि उस पर सेठ ने उसके साहित्यकार होने की अपनी मोहर लगा दी है और हकूमत ने उस पर सरकारी टिकट चिपका दी है। वह यह नहीं जानता कि मोहर की स्याही फीकी है, उड जाने वाली है और सरकारी टिकट पर गोंद पतली है, उतर जाने वाली है। पुरस्कार न पाने वाला इसलिए जलता है कि उसका तिरस्कार हो गया है। वह यह नहीं जानता कि हर युग में महान लेखक का पहचाना नही गया है। वह चाहे कालिदास हो या भवभूति, शेक्स पियर हो या प्रूस्त, गालिब हो या निराला। शायर इकबाल को यह कहना पडा था—

> हजारो साल से नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती है।
> बडी मुश्किल से होता है चमन म दीदावर पैदा।

कुछ लेखक ऐसे भी निकल आते हैं जो पुरस्कार पाकर भी सरकार

या सठ के वफ़ादार नहीं रहते। पहाड़ी मीत किसके, भात खाया और खिसके। यह मुहावरा मुझे जचता नहीं है। असल म पहाड़ी ने पैदल चलकर घर पहुचना होता है। इसी तरह इन लेखको के लिए वफ़ादारी का सवाल गौण है चैक मुख्य होता है। पुरस्कार न पाने वाले को यह तसल्ली हो सकती है कि एक दिन ज़माना उसकी रचनाओं को अवश्य पहचानेगा, यह चाहे अगले जन्म म क्या न हो। कवि भी दो तरह के होते हैं पत पुरस्कृत कवि है और निराला केवल कवि।

इन दिनो अभिनन्दन अखिल भारतीय स्तर पर होने लगे हैं, बड़े पैमाने पर। क्यो न हों? केवल हवा ही नहीं बदली, लोगो को हवा लग गई है। यह उसी तरह जिस तरह सब आयोजन और सम्मेलन या तो शिखर के स्तर पर या विश्व के स्तर पर अनुवादको का शिखर-सम्मेलन, आशुलिपिको का शिखर-सम्मेल, गुटनिरपेक्ष देशों का शिखर सम्मेलन, विश्व तमिल सम्मेलन, पजाबी विश्व-सम्मेलन, हिन्दी विश्व-सम्मेलन। हरक शिखर पर बैठना चाहता है, नीचे उतरना अपना अपमान समझता है। हवा म उडने का जो मज़ा है वह धरती पर चलने मे नहीं है। अब जरूरत साक्षात्कार शिखर सम्मेलन की है। यह साहित्य की नई विधा है—साक्षात्कार लेना और देना कम सृजनात्मक नहीं है। रडियो, टी० वी० और पत्र पत्रिकाओं मे इनकी भरमार है। इसमे न हिंग लगे न फिटकरी, रग चोखा हाय। इसी तरह हास्य-व्यग्य लेखन के शिखर सम्मेलन और पत्रकार विश्व-सम्मेलन की आवश्यकता भी महसूस होने लगी है। कविता, कहानी, उपन्यास का युग बीतने का है, नाटक, रग शाला और फिल्म इन पर हावी हो रहे हैं।

यह सगठन का युग है। अगर मजदूर और राजनीतिक दल अपना सगठन कर रहे हैं तो बचारे लेखक और अनुवादक क्यो न कर। अपना-अपना मोरचा लगाना अपना एक तरह का धधा बनता जा रहा है। मुझे बताया गया है कि बडे-बडे शहरो म यह खूब पनप रहा है। इसकी दुकानें खुल चुकी है। अगर मजहब की दुकानें चलती रही है तो मोरचो की क्यो नहीं चल सकती। मोरचा की दुकानो पर हर चीज़ आसानी से मिल सकती है—खटिया, पत्थरों की बोरिया टूटी फूटी चपलें और इनका इस्तेमाल करने वाले आदमी। छोटे पत्थरो की बोरी का एक दाम है, बडे पत्थरो की बोरी का दूसरा दाम। इसी तरह छोटी बडी झण्डियो की अपनी-अपनी कीमतें हैं। इन पर नारे पहले से लिखवाए जाते हैं मुरदाबाद, जिन्दाबाद किसका यह बाद मे जोड़ा जाता है। हमारी मागें पूरी करो, कौन-सी बाद में। यह धधा उसी तरह का है जिस तरह शादियां करवाने

का। सब काम आसानी स हो जान हैं। पण्डित का, वेदी का, हवन का, लकडी का, फूल मालाओ का, सेहरो का इन्तजाम पैसो से हो जाता है। यहा तक कि सुहाग रात बिताने का इन्तज़ाम बडे-बडे होटलों म होने लगा है। यह उसी तरह जिस तरह दाहसस्कार का इन्तज़ाम पहले से होता आया है। पूजीवादी युग नये नय धधो का ह जहा हर चीज बिकती है। इस मण्डी-सस्कृति या हाट-सस्कृति के युग मे पैसे का बोलबाला है और लेखक मानव मूल्यो की बात करने से बाज नही आता।

एक आलोचक के नाते मुझे कभी-कभी परशानी तब उठानी पडती है जब लेखक अपनी रचनाओ पर मेरी राय मागने पर तुल जाते है। इनका यह तकाजा भी साथ जुडा होता है कि मैं इन पर जम कर लिखू। इसके बाद खतों और मुलाकातो का ताता लग जाता है और मेरे सिर पर भारी बोझ होने लगता है और तबियत परेशान होने लगती है। इनकी रचनाए मुझे खाने को पडती हैं। अगर मैं टाल-मटोल करता हू तो लेखक कहने लगता है—साला अकडता है, अपना ज्ञान दिखाता है। मुझे लेखक तो यह बना नहीं सकता, मुप पर लिखकर खुद आलोचक बन सका है। इसके पास तो फुरसत है। कभी बागवानी कर रहा होता है, कभी पकवान बना रहा होता है। एक बार एक पत्रकार मेरा साक्षात्कार लेने आ टपका। मैंने निवेदन किया कि मुझ जैसे नाचीज से बातचीत करने से तुझे क्या मिलेगा। पैसे– उसका मुहफट जवाब था। पहला सवाल उस ने यह किया (थोडा झिझक कर) क्या आप पढने लिखने मे इतने उलझे रह हैं कि आप अकेले रह गए हैं? क्या जवाब देता सिवाय इसके—

या रब दुआ ए वसल न हरगिज कबूल हो
फिर दिल मे क्या रहेगा जो हसरत निकल गई।

इधर उधर की हाकने के बाद उसने यह सवाल किया कि आप जनवादी किस तरह बन गए हैं? आखिरी उम्र में कलमा कैसे पढने लगे हैं? इस तरह घिर कर मैंने इकबाल का शेर सुना दिया—

मस्जिद तो बना दी शब भर मे ईमा की हसरत वालो ने
मन अपना पुराना पापी है बरसो से नमाजी बन न सका।

इकबाल बडा उपदेशक है मन बातो मे मोह लेता है—

गुफ्तार का गाजी तो बना किरदार का गाजी बन न सका। जनवादी बिना किरदार के किस तरह जनवादी हो सकता है। अन्त मे मैं अपनी इस भेड को जिन्दगी की दुआ देकर गलकटियन के यानी आपके बाडे म हांके देता हू। खुदा खैर करे।

जन्मशतिया : एक धधा

आधुनिक युग म एक नया धधा, जो बडे पैमाने पर हो रहा है वह राजनीति का धधा है। इसमे छोटे-बडे लोगा को कमान का अवसर मिल जाता है। इश्तिहार चिपकाने वाले से लेकर इश्तिहार फाडने वाले तक को और हटाने वाले को अधिक रकम इसलिए मिलती है कि इसका काम अधिक कठिन होता है। इसी तरह गला फाडने वाले को रिक्शा चालक से अधिक पैसे मिलते हैं।

राजनीतिक धधे के नक्कारखान म साहित्यकार की तूती को कौन सुनता ह। उसने जन्मशताब्दिया मनान का धधा शुरू कर दिया है। कभी किसी की पाचवी जन्मशती मनाई गई है कभी चौथी, तीसरी, दूसरी और कभी पहली। सबस पहले भगवान बुद्ध की 25वी जन्मशती का अवसर मिला था, लेकिन इसमे साहित्यकार के लिए गुजाइश कम थी। रवीन्द्र-नाथ ठाकुर से लेकर शरतचन्द्र की पहली जन्मशताब्दी तक लेखक-आलोचक को थोडा बहुत धधा करन का अवसर तो मिला लेकिन यह उसकी बढती लालसा को शात न कर सका। तुलसी-सूर की जन्मशतिया ने उसे अपनी करामात दिखाने का बेहतर मौका दिया। कवि जितना महान होता है धधा भी उसके अनुरूप महान होने की गवाही देने लगता है। आज स दो साल पहले अनेक जन्मशतियों की भरमार लग गई थी और कुमार विकल के कवि को इतना गुस्सा आया था कि उसने ये पक्तिया लिख डालीं —

'आज मरे देश के सम्भ्रांत लोग / गुरुओ, महात्माओ की जन्मशताब्दिया / मनाने के धधे म लग रहे हैं / मैं एक अदना आदमी भूख का पर्व / मनाने के लिए / अपने वक्त की सबस भद्दी गाली / ईजाद करने मे व्यस्त हू।'

सके बावजूद यह धधा अब तक जारो से जारी है।

इस साल प्रेमचद की जन्मशती मनाने का पशा शुरू हो गया है। पहले भी कवि-राजाओ-महाराजाओ के दरबार मे यह धधा करते रहे हैं, लेकिन शतियो का धधा आधुनिक युग की देन है। जब लेखक-आलोचक (आलोचक भी दूसरे-तीसरे दरजे का लेखक होता है) के पास अपनी पूजी नही होती तो उसे महान साहित्यकारा की पूजी पर जीना हाता है। इस-लिए साहित्य के बाजार को गरम रखने के लिए इस साल प्रेमचद पर विशेष समारोह हो रहे है, पत्र पत्रिकाओ के विशेष अक निकलने वाले हैं, प्रेमचन्द के साहित्य पर पुस्तको के विशेष सकलनो का सम्पादन हो रहा है, शायद खास नुमायशो के आयोजन भी हो। यह 31 जुलाई तक चलते रहेंगे, यानी प्रेमचन्द इस दिन 1880 मे पैदा हुए थे।

यह दिन मुबारिक था, लकिन समकालीनो न इन्हे मान्यता नही दी। इन पर तरह-तरह के आरोप लगाए गए, जिनमे सबसे बडा साहित्यिक चोरी का था। एक लेख म इनका कहना है—हिन्दी मे आजकल मुझ पर आलोचक महोदया की विशेष कृपा है। 'समालोचक' के पिछले अक मे एक महाशय न मेर उसी 'हसी' नामक लेरा को मराठी के मूल से मिला कर यह सिद्ध किया है कि यह उनका अनुवाद है। इस पत्रिका म यह आरोप भी लगाया गया कि वह केवल साहित्यिक चोरी ही नही करते, डाका भी डालने थे। इनका उपन्यास 'रगभूमि' मौलिक नही, वेनटीफेयर' का रूपातर है और 'प्रेमाश्रम' मे 'रिजरेक्शन' के भाव आ गए है, इसलिए यह छायानुवाद है। प्रेमचन्द का इतना कहना था कि मैंने रिजरेक्शन पढा ही नही है। आखिरी तान वह इस बात पर तोटते हैं कि इस तरह के आरोपो मे समकालीनो की जलन है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इन पर यह आरोप लगाया था कि इनका बडा दोष जो इनकी साहित्य कला को कलुषित करता है—यही 'प्रोपेगेण्डा' है जिसका सकेत रामचन्द्र शुक्ल न अपने हिन्दी साहित्य मे दिया है। इन समकालीनो की पहचान-परख को देखकर इकबाल का यह शेर याद आन लगता है—

हजारो साल नरगिस अपनी बेनूरी पे रोती है,
बडी मुश्किल से होता है चमन मे दीदावर पैदा।

यह शिकायत हर बडे लेखक का रही है कि समकालीनो न उसे नही पहचाना है। वह चाहे कालिदास हा या भवभूति, गालिब हो या निराला, रवीन्द्रनाथ हा या शरत्चन्द्र। इसका मतलब यह नहीं लिया जाए कि आज अगर किसी साहित्यकार का मान्यता नही मिल रही है तो वह जीनियस' है। प्रेमचन्द के दीदावर भी थे—मदन गोपाल, रामविलास शर्मा और इन्द्रनाथ मदान, लकिन अब इनकी पहचान परख अधूरी लगती

है। आचार्य शुक्ल के युग में उपन्यास-कहानी का स्थान मंदिर में हरिजन का था।

इस अरसे में बहुत-कुछ बदल चुका है। उपन्यास और कहानी इस मंदिर में घुस चुके हैं। इस बीच प्रेमचन्द के कथा साहित्य पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। प्रेमचन्द की जन्मशती इसे बढ़ावा दे सकती है, लेकिन यह एक व्यथा का रूप धारण कर रही है। अमृतराय ने पहले बड़े परिश्रम और साधना से नई सामग्री को जुटाया था कमलकिशोर गोयन्का ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के शिल्पपक्ष का निरूपण किया है। अनेकों ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए अपनी दृष्टि को इस पर आरोपित किया है, वह चाहे समाजशास्त्रीय हो या सौंदर्यशास्त्रीय। अभी तक पृथक शास्त्रीय और संरचनावादी दृष्टि का प्रेमचन्द की कृतियों पर आरोपिन नहीं किया गया है। अगर इनकी राह से गुजर कर उनकी पहचान-परख की गई होती तो शायद मानववाद, गांधीवाद समाजवाद, समस्यावाद आदि वादों से छुटकारा पाकर इनके वास्तविक स्वरूप को उजागर किया जा सकता था। इसके लिए साधना की आवश्यकता है, लेकिन आज साधन तो हैं, साधना रूठ गई है और साधना के युग में प्रेमचन्द जन्मशती का व्यथा ही हो सकता है।

प्रेमचन्द के कथा साहित्य के वस्तु शिल्प विधान पर अनेक आरोप लगाए गए हैं, इनमें अनेक कलात्मक त्रुटियां को खोजा गया है। इनमें अतिनाटकीय प्रसंग, आकस्मिक घटनाएं और मोड़, अविश्वसनीय पात्र, अस्वाभाविक चरित्र-परिवर्तन विचित्र संयोग, असंगत स्थितियां, नीरस भाषणा आदि की गणना की गई है। यदि एक एक दोष के लिए एक एक अंक काट लिया जाए तो दस अंकों में प्रेमचन्द सिफर ही पा सकते हैं और फिर आलोचक इन्हें उपन्यासकार और कहानीकार कहने से बाज नहीं आते। ऐसा क्यों है? क्योंकि हिन्दी उपन्यास की शुरुआत 'गोदान' से और हिन्दी-कहानी की 'पूस की रात' और 'कफन' से की जाती है। इसे जानने और पहचानने के लिए इनके कथा साहित्य की विकास यात्रा से गुजरना पड़ता है। प्रेमचन्द को किसी वाद के कटघरे में बन्द नहीं किया जा सकता। वह वादी होकर न जिए हैं और न ही मरे हैं। उनका व्यक्तित्व असंगतियों का पुंज है उनका साहित्यकार गतिशील रहा है। यही कारण है कि वह 'वरदान' से चलकर 'गोदान' तक और 'अनमोल रतन' से चलकर 'कफन' तक पहुंचे हैं। वह अपनी परम्परा का स्वयं खंडन करते रहे हैं। इनकी आंखों में जैसे-जैसे आंसू सूखते गए हैं वैसे-वैसे इनकी दृष्टि साफ होती गई है। अन्त में यह पूरी तरह साफ हो सकी है या नहीं —यह अलग सवाल

है। इनकी पत्नी शिवरानी ने जब 'गोदान' की पाण्डुलिपि के अन्त में होरी को धराशायी पाया तो वह रो पड़ी और पति को डाटने लगीं कि होरी को क्यो मारा है। लेखक के पास केवल यह जवाब था कि किसान मरा नही तो क्या जी रहा है। मगर प्रेमचन्द आज भी जीते होते तो वह होरी को अन्त में मार देते। आज भी भारतीय छोटे किसान की यही नियति है। उसे उपन्यास मे, जिसका अपना ससार होता है, मारने के सिवा और चारा ही क्या है। इसलिए 'गोदान' एक त्रासदीय व्यग्य रचना बन सका है। अत 'कफ़न' विसगतीय बांध की कहानी बन सका है जब बाप-बेटा ताडी के नशे मे नीचे गिरकर इसका अन्त करते हैं। इस सवेदना के कारण हिन्दी उपन्यास और कहानी की शुरुआत इनसे करनी पडती है। कहानी के नये से नये परचम उडाए जाते रहे हैं, लेकिन यह कहा तक इससे आगे बढी है—यह सवाल बना रहता है।

एक बात पचे के इस युग मे खटकती है कि अभ तक प्रेमचन्द के समूचे कहानी-साहित्य पर एक भी काम की किताब नही निकल सकी है, जिसमें दृष्टिकोण शास्त्रीय न होकर सृजनात्मक हो। आज आलोचना सृजनात्मक होने की गवाही दे रही है, लेकिन 'एकेडेमिक' आलोचक टस से मस नही हो रहा है। वह अपने सिद्धान्तो से बुरी तरह चिपका हुआ है, दलबन्दी मे फसा हुआ है। प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य के न तो राजा है और न ही रक। वह बीच मे कही खडे हैं। इनका कथा-व्यक्तित्व साधारण है या कही कही असाधारण है, इसे आकना शेष है। एक और तरह की आलोचना भी आज देखने को मिलती है जिसम उन कृतियो को निरूपित किया जा रहा है जिन्हे आलोचको ने अपनी जवानी के आलम मे पसन्द किया था। इस तरह वे मजनू अपनी लैला से चिपके रहना चाहते है। कुछ कृतिकार-आलोचक भी हैं जिनके बारे मे अनातोल फ्रास का यह कहना है— हमारी इश्कबाजी के बाद खूबसूरत लडकियां नहीं रही, शादी के बाद वफादार बीवियां नही रही और हमारे साहित्य के सिवाय काम का साहित्य ही नही है।' अब प्रेमचन्द का साहित्य बीत गया है। इसका वध ही किया जा सकता है।

●

बहानेबाज़ी

मेरी छोटी समझ से यह बाहर है कि हर तरह की बाज़ी और खोरी को दोष क्यों माना जाता है, जबकि इनके बिना जीना मुश्किल है। यह चाहे गप्पबाज़ी हो या गोष्ठीबाज़ी इश्कबाज़ी हो या पतंगबाज़ी, बहानेबाज़ी हो या फक्केबाज़ी, चुटकलेबाज़ी हो या पैंतरेबाज़ी। बाज़ी की तरह खोरी की गिनती भी कम नहीं है—चुगलखोरी, सूदखोरी, हवाखोरी, मासखोरी, घूसखोरी और अब चायखोरी, काफीखोरी। आशिक को बुरा नही माना जाता, लेकिन इश्कबाज को फूटी आख से देखा जाता है। इसी तरह एकाध चुगली खाना बुरा नही है, लेकिन बार-बार इसे खाने वाला चुगलखोर कहलाता है और इसकी सगत से परहेज बरता जाता है। कभी-कभार गप्प हाकना तो ठीक है लेकिन सुबह से शाम तक इसे हांकने वाला गप्पबाज समझा जाता है और इससे बचने की कोशिश की जाती है। बसत मे पतग उडाने वाला पतगबाज नही कहलाता, लेकिन सारा साल पतग उडाने वाला ही पतगबाज के अधिकार को पा सकता है।

यही हाल आज गोष्ठीबाज़ी का है। कभी कभार गोष्ठियो मे शामिल होना गोष्ठीबाजी नही कही जा सकती, कभी-कभार चोचें लडाने से तो पछियों की सेहत बनती है, लेकिन हर राज चोच लडाने से लहू के फूट पडने का खतरा पैदा हो जाता है। यह ठीक है कि गोष्ठियो मे शामिल होने से हर विषय पर इतनी चलती जानकारी मिल जाती है कि उस पर किताबें पढने से छुटकारा भी मिल जाता है, लेकिन इनके बिना जब किसी का जी उदास होने लगता है तो उसे गोष्ठीबाज कहना उचित है। मेरे एक अजीज को इसका पूरा पता रहता है कि किस शहर मे कहानी पर गोष्ठी होने वाली है, किस नगर म कविता पर, किस गढ म भाषा के सकट पर। इस जानकारी से उसके तलवो म हरकत पैदा हो जाती है और उसमे शामिल होने के लिए वह साधन जुटान मे लग जाता है। गोष्ठी म बात अपनी-अपनी कहनी होती है, चाहे इसमे वजन हो या न हो, लेकिन

कहने का अन्दाज जरूरी है। गोष्ठियो मे किसी के शामिल होने की तदाद अगर आधे सैकड़े के पार हो जाती है तो वह गोष्ठी-पति बनने का और हर विषय पर फतवे देने का अधिकार पा लेता है। मुझे बताया गया है कि एक गोष्ठीबाज ने इनका सहारा लेकर एक किताब भी लिख डाली है जिसमे सब आलोचको का मजाक उड़ाया गया है। इसी तरह घर मे काफी पीने वाला काफीबाज नहीं हो सकता इसके लिए काफी हाउस जाना पड़ता है। अपनी पत्नी को चाहने वाला इश्कबाज नहीं बन सकता है। घर मे टहलने वाला हवाखोर नही हो सकता है, इसके लिए नदी या झील पर जाना होता है। कप के हिसाब से चाय पीने वाले को चायखोर नहीं कह सकते, इसके लिए चायदानियों का हिसाब रखना होता है। क्या इसका मतलब यह हुआ कि बाजी और खोरी में अति का होना आवश्यक है ?

यह हो सकता है कि इन्सान हवाखोर, मांसखोर (सब्जीखोर क्यो नही होता और न ही मालखोर), सूदखोर या चुगलखोर न हो। यह भी सम्भव है कि इश्कबाज, पतंगबाज, गप्पबाज या गोष्ठीबाज भी न हो, लेकिन बहानेबाजी के बिना काम किस तरह चल सकता है। कदम कदम पर बहाना बनाना पड़ता है। अगर यह सही है तो बहानेबाजी बुरी क्यों मानी जाती है ? आप शादियो म शामिल होना नही चाहते, सभा-सोसायटियो से दूर रहना चाहते हैं। एक पति बड़ी आसानी से कह सकता है कि पत्नी की तबियत ठीक नही है और सीता के बिना राम का आना जाना किस तरह हो सकता है। वह चाहे रात के दूसरे पहर ताश खेलकर लौटते हो या धोबी के कहने पर सीता को बनवास दे सकते हो पत्नी नही है या मर चुकी है तो अपनी तबीयत खराब करनी पड़ती है। बुखार के बहाने का पता तो चल जाता है लेकिन सिर और पेट के दद का पता लगाना मुश्किल होता है। प्रेमचन्द की कहानी पूस की रात मे जब सारा खेत चट हो गया था तो पति को पत्नी के डाटने पर यह बहाना लगाना पड़ा था कि उसके पेट मे वह दद उठा कि जान के लाले पड गये थ।

इस तरह हर स्थिति से बचने के लिए एक नया बहाना खोजना पड़ता है। एक रिश्तेदार हैं जो साल मे एक दो बार पहली तारीख को अपनी तनख्वाह निजी उधार चुकाने के कारण जब घर नही ला सकते तो इनको कभी पतलून की फटी जेब अपनी बीवी को दिखानी पड़ती है जिससे सारे नोट रास्ते मे गिर गए और जिसके लिए वह जिम्मेवार है या कभी टैक्स मे सारी तनख्वाह के कट जाने का बहाना बनाना पड़ता है और बहानेबाजी से घर म शांति बनी रहती है। इश्कबाजी मे बहानेबाजी लाजमी है। सरकारी या जरूरी काम का बहाना बनाकर बाहर जाना हो सकता है,

घडी को खराब बता [illegible] साइकिल को पचर कर घर मे देर से पहुचा जा सकता है। बहानेबाजी बचपन से लेकर बुढ़ापे तक चलती है। स्कूल का काम अगर न किया हो तो मा की बीमारी का बहाना गढना पडता है, हलवा खाने को अगर जी करता हो तो बूढे को अपने दात में दर्द की बात करनी होती है मेरे चाचा ने जब अपने सारे दात एक एक करके निकलवा दिए तो मैंने उन्हे नया सेट लगवाने के लिए पैसे पश किए। इनके इन्कार करने की असली वजह थी कि चाची नरम नरम पकवान की जगह सूखी रोटी देनी शुरू कर देगी। बचपन की बहानेबाजी मे भोलापन होता है, लेकिन बुढापे की बहानेखोरी मे सोच-विचार पाया जाता है। जवानी मे इसे एक कला के रूप मे साधना होता है। इश्क या मुहब्बत मे सफलता यदि खतरे मे पडने लगती है तो नदी या झील मे छलाग लगाने की धमकी इस तरह देनी होती है कि वह बहाना न लगे। इसका ही नाम कला है। इश्क मे इसकी जरूरत इसलिए अधिक होती है कि मुहब्बत करने से मुह इतना भर जाता है कि और कुछ कहने की सम्भावना ही नही रहती।

एक स्थिति से यदि बच निकलने की समस्या हो तो बहानेबाजी की जरूरत नहीं पडती, लेकिन कदम-कदम पर स्थितियो का सामना करना पड जाए तो बहानेबाजी के सिवाय और चारा ही क्या है। सरदियो मे न नहाने के लिए, बीवी को सैर न करवाने के लिए, सिनेमा न जाने के लिए नकारात्मक स्थितियो मे नया से नया बहाना खोजना पडता है। एक ही बहाना लगाना काठ की हाडी की तरह होता है जिसे राजनीतिक नेता ही बार-बार चढाना जानता है। औसत आदमी के बस का यह रोग नही है। मुझे खाना खाते ही नींद आने लगती है। इसलिए मैं किसी की दावत पर जाने से कतराता हू खाना खाने के बाद बातें करना शिष्टाचार समझा जाता है जिसका पालन करना कठिन हो जाता है। हर दावत पर न जाने का एक ही बहाना किस तरह बनाया जा सकता है। एक बार तो कहा जा सकता है कि पेट खराब है, लेकिन हर बार यह कहने से दोस्त डॉक्टर के पास ले जाते हैं और डॉक्टर दवा खाने के लिए मजबूर करता है। जब सभापति बनने के लिए मुझे विवश किया जाता था तो मैंने यह बहाना गढा कि मुझे बार-बार उठकर बाथरूम मे जाना पडता है और यह सभापति को शोभा नही देता। सभापति बनने की बोरियत से बच गया, लेकिन मुझे डायबटीज का शिकार समझा जाने लगा। काश, मुझे बहानेबाजी आती, तरह तरह के बहाने बना सकता और इन मजबूरियो से बच सकता। ●

अभिनन्दन

एक साहित्यकार के नाते मेरा अभिनन्दन पंजाब सरकार शायद इसलिए कर रही है कि आज का युग अभिनन्दन और उद्घाटन का है—व्यक्ति का अभिनन्दन और वस्तु का उद्घाटन। मैं सरकार के भाषा-विभाग का इस लिए आभारी हूं कि वह मेरा उद्घाटन नहीं कर रहा है, वह मुझे वस्तु नहीं समझता है। एक व्यक्ति के नाते मुझे लग रहा है कि मेरा जलूस अवश्य निकाल रहा है, जबकि अब तक मैं दूसरों का जलूस देखता आया हूं। तमाशबीनी की आदत है, लेकिन आज खुद तमाशा बन गया हूं या बनाया गया हूं। घटना तो घट चुकी है, इसे लौटाया नहीं जा सकता। इस लौटाने की क्षमता भगवान में भी नहीं है जिसे इतना शक्तिशाली समझा जाता है। इसे भोगने के सिवाय मेरे पास और चारा ही क्या है!

मैं सच कहता हूं कि मैं लेखक नहीं हूं और यह विनय भाव से नहीं अहंभाव से कह रहा हूं। अगर पंजाब सरकार को मेरे साहित्यकार होने का वहम हो गया है तो मैं इसका दोषी नहीं हूं। मैंने कभी भी लेखक बनने का अपराध नहीं किया है। यह हो सकता है कि मेरा अभिनन्दन एक असफल लेखक के नाते किया गया हो। प्रेमचन्द ने ठीक ही कहा था कि असफल लेखक ही आलोचक बन जाता है। इसके साथ अगर यह जोड़ दिया जाए कि असफल व्यक्ति ही दूसरों की आलोचना और निन्दा करने लगता है तो अनुचित न होगा। मेरे लेखक न होने का यह भी कारण है कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूं—देखने में, रहन-सहन में, प्रतिभा में। लेखक असाधारण व्यक्ति होता है। इसके अतिरिक्त लेखक की तरह मैंने घाट-घाट का पानी भी नहीं पिया है। केवल नलके का पानी पीने वाला लेखक नहीं बन सकता। अपने मकान से बहुत कम निकला हूं। इस तरह मेरा जीवन सीमित रहा है, अनुभूतियों से वंचित। अब तक केवल चार घटनाओं का आभास है—एक पैदा होने की, दूसरी खेलकूद में गाल पर गुल्ली लगने

की, तीसरी स्कूटर से गिरने की और चौथी आज जो घटना हो रही है, और पाचवी घटना जब घटेगी तब उसका मुझे एहसास नही होगा। इसलिए अनुभूतिया के बिना लिखना कैसे हो सकता था और लेखक किस तरह बन सकता था। मुझमे न तो लेखक के गुण हैं और न ही लक्षण। अगर आज लेखक बनाया गया हू तो एक बैरंग लेखक कहा जा सकता हू जिस पर भाषा विभाग ने सरकारी टिकिट चिपका दी है, लेकिन इस वहम का कब तक पाल सकता हू। मुझे आशा है कि सरकारी टिकिट के उतरने मे अधिक समय नही लगेगा। इस पर गोद कम हुआ करती है। जब तक यह टिकिट उतरती नही है तब तक मुझ पर अगुलिया उठती रहेंगी कि मैं साहित्यकार हू और यह साहित्यकार होकर भी खुद सब्जी खरीदता है, खुद हाडी पकाता और खुद खा जाता है, यह लेखक होकर भी खुद फूल उगाता है और खुद इनको देखता और सूघता रहता है। एक लेखक का असली काम तो लिखना और पढना होता है। अब तो शायद आपको यह विश्वास हो गया होगा कि साहित्यकारो की पक्ति मे खडा होने का मेरा अधिकार नही है। मैं महामानव बनने के लिए अपनी मानवीयता को खोना नहीं चाहता हू।

अगर सौ नए पैसे सही कहा जाए तो मैं केवल एक पढाने वाला व्यक्ति हू और पढाने के लिए थोडा पढना सोचना भी पडता है। अपनी सोच को साफ करने के लिए कभी कभी लिखने की भूल मैंने अवश्य की है। यह इसलिए कि मेरी बात की कडी आलोचना हो सके। मतभेद से बात स्पष्ट हो सकती है, या उलझ सकती है, या फिर गिर सकती है। मुझे गुड की मिठास से करेले की कडवाहट अधिक पसन्द है। अब तक मेरी दृष्टि को कडी आलोचना के लायक नही समझा गया है, मेरी बात को पढने योग्य नही माना गया है। मेरा जीवन मेरे छात्रो तक सीमित रहा है और वे मेरी कडी आलोचना करने से परहेज करते रहे हैं। मेरे छात्र ही मेरी जिन्दगी की सबसे बडी दौलत हैं और यह चलने फिरने वाली दौलत है, हर साल बदलती रही है। इनकी अक्ल और इनकी शक्ल मेरे रीतेपन को भरती और खाली करती रही है। किनकी अक्ल और किनकी शक्ल इनका अनुमान आप बेहतर लगा सकते हैं। इनको ही मैं अपना स्नेह देने की कोशिश करता रहा हू। इस तरह मेरा दायरा बहुत छोटा-सा रहा है और इससे मैं असन्तुष्ट भी नही हू। अगर मैं साहित्यकार समझा गया हू तो यह एक भ्रम है और भ्रम को दूर करना मेरे बस का रोग नही है।

इस अवसर पर स्नेह की गोद से लेखक होने की सरकारी टिकिट ही नहीं, सराहना की स्याही से मोहर भी आपके सामने लग चुकी है। सबके

स्नेह और सराहना का आभारी हू। स्नेह मे सराहना तो अवश्य रहती है, लेकिन कभी-कभी सराहना मे भी स्नेह होता है। लेकिन उन सबसे मेरी सहानुभूति है जिनको मेरी यह सराहना अखर रही हो। इसमे मेरा न दोष है और न ही परिश्रम। आप शायद मुझसे पते की बात सुनने की आशा लगाए बैठे हो, लेकिन मैं वह पहुचा व्यक्ति नही हू जो सन्देश देने का अधिकारी होता है। मैं तो स्वय एक भटक रहा इसान हू जो किसी राह का खोजी भी नही रहा, जिसे किसी मजिल पर पहुचने की आशा भी नही है। मुझे तो लगता है, मानव की नियति अभिशप्त है और हर नय सन्देश ने उसे धोखा दिया है। एक ने कहा कि मानव की यह अतिम साधना है और इसके बाद यह अतिमानव या सुपरमन बन जाएगा। यह नही हुआ। एक और ने कहा कि शापित का यह आखिरी युद्ध है और इसके बाद शोषण का अन्त हो जाएगा। इसका भी अन्त नही हुआ। एक और ने विश्वास दिलाया कि भारत म स्वाधीनता के बाद रामराज्य की स्थापना हो जाएगी। वह भी अभी आखो से ओझल है। आज पुराने सपने टूट रहे हैं, विश्वास गिर रहे हैं। मेरे पास तो प्रश्न ही प्रश्न हैं, इनके उत्तर नही। आप उत्तर चाहते हैं, समाधान चाहते हैं, असमजस की स्थिति से निकलना चाहते हैं। मैं स्वय इस स्थिति मे पडा हुआ हू। मुझे तो यह भी सन्देह है कि सत्य को पाया भी जा सकता है या नही। पुराने सत्य को खोया अवश्य है। अगर किसी ने इसे पा लिया है तो मैं उसको मुबारकबाद देता हू। यह ठीक है कि असमजस की स्थिति को जीना बडा कठोर होता है, इसका सामना करना बडा कठिन होता है पर किया क्या जाए? आज स्थिति भी गति हो रही है और यह पकड म नही आ रही है। इसलिए कहने को मेरे पास कुछ नही है, भुलावे म डालने के लिए कोई सन्देश नही है। झूठ बोलने से भी थोडा परहेज करता हू। उपदेश सुनने और सन्देश देने से चिढ है।

अब तो आपको विश्वास हो गया होगा कि मुझम लेखक का एक भी गुण नही है। यह और बात है कि कद जितना छोटा पाया है, दिल उतना ही बडा। मेरे मित्रो ने आपस मे साजिश करके आज मेरा तमाशा देखना चाहा है। इसलिए इनके चेहरो पर अपराध की रेखाए हैं, इनकी आखो मे शरारती मुसकराहट है। इन सबका नाम लेना मित्रघात करना होगा। अब होनी तो हो चुकी है। इसलिए इनके परिणाम को स्वीकारना है। इस साजिश म किस सव्यसाची का हाथ है, उसका नाम लिए बिना नही रह सकता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने अपराध को सहज भाव से स्वीकार भी कर लिया है। इसलिए सबकी स्नेह-सराहना का ऋण चुकाने

के लिए यह थैली, जो मुझे भेंट मे मिली है, सव्यसाची को सौंपना चाहता हू, ताकि यह हिन्दी के काम आ सके। हिन्दी के लिए पहले जब साधन नही थे तब साधना थी, लेकिन आज जब साधन हैं तो साधना रूठ रही है। अन्त मे मेरी एक छोटी-सी चाह भी है। इस अवसर की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए खाली थैली मुझे लौटा दी जाए और खालीपन से मेरा सदा मोह भी रहा है। ●

अभिनन्दन के बाद

अभिनन्दन के बाद की बात वही कर सकता है जिसके साथ यह बीत चुका हो। पजाब सरकार ने एक साहित्यकार के रूप मे जब से मेरा अभिनन्दन किया है तब से मित्र अमित्रो ने मेरा उद्घाटन करना शुरू कर दिया है। मेरा अनुमान था कि इस घटना के बाद धूल बैठ जाएगी, शोर बन्द हो जाएगा और मैं बोरियत की शात जिन्दगी फिर से बसर करना शुरू कर दूगा। बोरियत मुझे इतना परेशान नही करती जितना यह मेरे मित्रो और अमित्रो को जो मुझसे अधिक सवेदनशील हैं। इन दिनो इनकी सख्या दिन पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। मेरे मित्रो ने मुझे इस तरह खिलाना-पिलाना शुरू कर दिया है जसे मैंने एक अरसे से अनशन कर रखा हो। मेरे गुणो का इस तरह बखान करना शुरू कर दिया है जसे मुझमे इसके पहले एक भी गुण नहीं था और इस अवसर ने ही इनको उघाडा हो। एक ने कहा कि अभिनन्दन पर वक्तव्य एक ऐतिहासिक घटना थी, दूसरे का कहना है कि वह दिन हिन्दी का था, तीसरे का कथन है कि मैंने जो कहा उसे करके दिखा दिया और पुरस्कार हिन्दी के लिए दान कर दिया। मेरा एक छात्र मेरी जिन्दगी की पाचवी घटना या मौत के बारे मे सुनकर दहशत मे आ गया। उसे डर लगा कि मैं कहीं मच पर ही न गिर पडू। इस तरह की स्नेह-सराहना से जब मैं अपच का शिकार होने वाला था तो मेरे अमित्रो ने मुझे हाजमे की गोलिया देनी शुरू कर दीं। एक को कहते सुना कि मैंने एक मदारी का खेल किया है, दूसरे का मत है कि मैंने एक एकाकी का अभिनय किया है, तीसरे की राय है कि मैंने अपने वक्तव्य मे सच ही तो बोला है कि मैं लेखक नहीं हू, और चौथे का विचार है कि यह सब स्टट था। इनके अनुसार पजाब सरकार ने मेरा अभिनन्दन करने मे भूल की है, मुझे पुरस्कार देकर गलती की है। मुझे मदारी या अभिनेता इसलिए कहा गया है कि भरी सभा म थैली सौंपकर बाद मे वापस ले ली है। इस तरह राम और मामा दोनो को सिद्ध कर लिया है और तालिया मुफ्त मे पिटवा ली

है। इस तरह की गोलिया से हर किसी की अपच दूर हो जाती है और मन स्वस्थ एव सन्तुलित हो जाता है। लेकिन मेरा यह सन्देह भी पुष्ट हो जाता है कि सत्य को पाया भी जा सकता है या नही।

सराहना और निंदा का कारण जब मेरी समझ से बाहर हो जाता है तब मैं पत्री उठाकर अपन ज्योतिषी के पास चला जाता हू। यह इसलिए कि जहा साधारण मनोविज्ञान असफल सिद्ध होता है वहा असाधारण ज्योतिष काम आता है। मनोविज्ञान मे केवल विज्ञान है जो ससीम है, और ज्योतिष म दैवी चमत्कार होता है जो असीम है। मेरी पत्री के अनुसार मेरा यह मान अपमान शनि तथा मगल के योग का फल है जो इन दिनो एक दूसरे को आमने सामने देख रहे है। शनि की चाल भी धीमी होती है। इस लिए इसका असर भी देर तक चलता है। अगर इस मान-अपमान से मैंने छुटकारा पाना है, स्नेह-सराहना की अपच से मुक्ति पानी है तो मुझे अनुष्ठान करना होगा। इसमे चार सौ की लागत और एक महीना पूजा करनी पड़ेगी। इतना करने पर भी शनि और मगल के योग का बल कम तो हो जाएगा पर बिल्कुल नही जाएगा। यह बात सुनकर मुझे चाद की याद आ जाती है जिसमे कलक है और फिर भी वह राहु-केतु का शिकार हो जाता है। इस तरह मेरी नियति इन दिनो मगल शनि के योग स ग्रस्त है। अपने बारे मे बेपर की सुन रहा हू, बेपाव को पढ रहा हू। इसकी आदत तो मैंने पहले से ही डाल रखी है।

आज पहली बार सुनने और पढने मे आया है कि मुझे प्रेमचद पर डॉक्टर की उपाधि मिली है। इसस मेरी जानकारी बढी है और मेरे सीमित ज्ञान मे विस्तार हुआ है। मेरी डाक्टरी पर प्रश्न चिह्न लगाने की नौबत अभी नही पहुची है, इसे कम्पाउण्डरी अवश्य कहा गया है। मुझे पहली बार पता चला है कि मैं एक निडर व्यक्ति हू, जबकि अब तक मैं बडो से डरता और उनकी खुशामद करता आया हू लेकिन अपने से छोटो को मैंने कभी डराया नही है। आज पहली बार मेरे नाम के साथ बडे-बडे विशेषण जोडे गए हैं—महामना, आदरणीय, माननीय आदि, जबकि महान बनने या आदर पाने की मेरी चाह तक नही है। मुझे साहित्य शिरोमणि की पदवी से भी विभूषित किया गया है। प्रेमचन्द को जब उपन्यास-सम्राट कहा जाता था तो मेरी समझ मे नही आता था कि उपन्यास और सम्राट में क्या सम्बन्ध हो सकता है। यह शायद इसलिए कि भारतीय आलोचक या निन्दक के शब्द भण्डार का बन्द दरवाजा जब एक बार खुल जाता है तो बन्द होने मे नही आता। वह खुलकर मान—अपमान करने लगता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी कोश मे शायद विशेषणो की भी भरमार है। इस

तरह की अतिशयोक्ति म स्वभावोक्ति है, परम्परा का भी हाथ है। यह सुनने मे आया है कि महाभारत मे सैनिको की तादाद अठारह करोड थी और इसका नाश अठारह दिनो मे सम्पन्न हुआ। उस युग मे भारत की कुल कितनी आबादी होगी यह तो विज्ञान का विषय है। विज्ञान मे केवल तथ्य होता है, जबकि काव्य मे सत्य। इस तरह मेरे बारे मे जो कौरवो तथा पाडवो की ओर से कहा गया है वह काव्य-सत्य के ही अधिक निकट ह। इसमे कवि का न्याय है, जज का इन्साफ नहीं।

इस अभिनन्दन का मुझे बडा लाभ भी हुआ है। मुझे बहुत सी अपनी तसवीरें खुद खिचवानी पडी हैं और बहुत-सी इसलिए कि मेरी सरकार को मेरी फोटो पसन्द नही आ रही थी। इसमे दोष तो मेरी सूरत एव आयु का था, सरकार या छायादार का नही। एक चित्र इसलिए ठीक नही है कि चेहरे पर झुरिया नजर आती हैं और इन्हें मिटाना छायाकार का काम है, दूसरा इसलिए नापसन्द है कि इसमे गरदन और चेहरा एक हो गए हैं और इन्हे अलग-अलग दिखाना भी उसी का काम है। तीसरे चित्र मे त्रुटि यह है कि होठो पर मुस्कान नही है और इसे लाना भी उसी के वश मे है और चौथे मे दोष यह है कि आखो मे रोशनी नही और इसे लाना भी छायाकार के अधिकार मे है। एक स्टूडियो से दूसरे मे इस तरह भटकना पडा जसे कि मुझे अपना चित्र किसी प्रेयसी को भेजना है और इसके आधार पर मेरी किस्मत का फैसला होना है। अब मेरे पास भले बुरे चित्रो का पूरा अलबम है जो मेरे मेहमानो के जी को तब तक बहला सकता है जब तक इनका खाना तैयार नही हो जाता। इसके मनोरजन के लिए एक टेप भी है जिसमे मेरा वक्तव्य सुरक्षित है। पहली बार जब मैंन इसे सुना तो मुझे लगा कि मैंने लिखा कुछ है और बोला कुछ और। महादेवी की ये पक्तिया याद आने लगी—

मैं अपने ही बेसुधपन म लिखती हू कुछ, कुछ लिख पाती।

मैं तो उस समय बेसुधपन की स्थिति में नही था पूरे होश मे था। जब टेप को दोबारा लगाया और अपनी लिखित कापी से उसे मिलाया तो अक्षर-अक्षर वही था। इन दोनो मे अन्तर केवल इतना था कि लिखित मे तालियों की गूज नही थी। इनकी ध्वनि ने दोनो से इतना अन्तर ला दिया। अब ध्वनि—सिद्धान्त, ध्वनि-नाटक, ध्वनि काव्य मे मेरा विश्वास गहरा हो गया है। मुझे आशा होने लगी है कि हिन्दी कहानी भी एक दिन अकहानी बने या न बने, ध्वनि-कहानी अवश्य बन जाएगी। इस टेप को सुन-सुन और सुना सुनाकर अब जी उकता गया है। आने-जाने वाला परिचित अपरिचित जब इसे सुनने की फरमाइश करता है तो मैं उस गाने वाली की तरह महसूस

करने लगता हूं जिससे बार बार एक ही दादरा गाने के लिए अनुरोध किया जाए, या उस कवि की तरह अनुभव करने लगता हूं जिसे एक ही कविता का अनेक बार पाठ करने को विवश किया जाए। अपनी ओर से कहना तो शुरू कर दिया है—"यह टेप रेडियो के संग्रहालय मे चला गया है जहां बड़े-बड़े व्यक्तियों की आवाजें सुरक्षित रहती हैं।" लेकिन लोग कब मानते हैं कि गाने वाली का गला खराब है या कवि की याददाश्त कमजोर है।

मेरा अभिनन्दन और इसके बाद मेरा उद्घाटन मेरी जिन्दगी मे हर सौदे की तरह घाटे का ही सिद्ध हुआ है। मुझे लगता है कि हर घटना व्यक्ति को अधिक अकेला छोड़ जाती है, हर स्थिति उसे अधिक भ्रान्तियों का शिकार बना जाती है, हर पुरस्कार उसे अधिक रीता कर जाता है। आम लोगों की धारणा रूढ़ हो चुकी है कि मैंने हिन्दी के लिए बली दान की है। एक तो दान किसी छोटे को दिया जाता है और हिन्दी मुझसे कहीं बड़ी है, और दूसरे मैंने यह त्याग-भाव से नहीं सहज—भाव से किया है। इसलिए कि त्याग मे मेरा विश्वास नहीं है और इसका मुझमे अभाव भी है। लेकिन भ्रान्तियों का दूर करना किसी के बस का रोग नहीं होता।

अभिनन्दन के बाद मुझे अनेक सलाहकारों से भी पाला पड़ा है जो अपनी-अपनी सलाह से मेरा विकास करना चाहते हैं। एक की धारणा है कि मुझमे ललित निबन्ध रचने की प्रतिभा है, जबकि जीवन भर मैंने एक भी ललित काम नहीं किया है। एक और का विचार है कि मुझमे कहानी लिखने की क्षमता है और वह मुझे कहानीकारों के छत्ते मे फेंकना चाहता है। इस स्थिति म एक बात सन्तोष की भी है कि किसी ने मुझे कविता करने की सलाह नहीं दी है, हालांकि हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाला हर व्यक्ति अपना साहित्यिक जीवन कविता से शुरू करता आया है। इसका अन्त वह पहले महाकाव्य म करता था, लेकिन आज वह नाटक-काव्य मे करने लगा है। महान कवि कहलाने के लिए पहले महाकाव्य कसौटी था, छोटी-छोटी कविताओं से महान की पंक्ति म खड़ा होना सम्भव नहीं था। आज का युग-बोध महाकाव्य की रचना के अनुकूल नहीं समझा जाता है। इसलिए महाकवि की पदवी पाने के लिए नाटक काव्य की रचना होने लगी है। मुझे शक होने लगा कि मेरे सलाहकार मुझे आलोचना से भी वंचित करना चाहते हैं। इनको शायद यह मालूम नहीं है कि दोस्तों के मजबूर करने पर मैं चुनाव लड़ने वाला व्यक्ति नहीं हूं। अगर कहानी आदि के चक्कर मे पड़कर मैंने एक बार भी आलोचना से नाता तोड़ दिया तो वह सदा के लिए रूठ जाएगी और मुझे जीने के लिए किसी नये वहम को पालना पड़ेगा। क्या हम सब वहमों के बल पर नहीं जीते हैं?

•

पर-निन्दा

यह समझ में नही आता कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में आठ रसों को तो गिनवाया गया है और बाद में नवा रस भी जोड दिया गया है, लेकिन निन्दा रस क्यों छूट गया है जबकि इसका भी अपना स्थायी भाव है। अगर शृंगार, करुण शान्त और हास्य रस का अपना-अपना स्थायी भाव है तो क्या हसद या जलन या निन्दा रस का स्थायी भाव नही है जो अधिक गहरे में है और जो अहं को अधिक सन्तोष देता है। इसी तरह यह भी समझ में नही आता कि अरस्तू ने विवेचन सिद्धान्त का निरूपण करते समय इसे क्या छोड दिया है जबकि दूसरों की निन्दा करने में इससे मनोविकार का अधिक विरेचन और अहं का अधिक विस्तार होता है। अगर शृंगार-रस के संचारी भाव हैं तो क्या निन्दा-रस के संचारी भाव नहीं हैं। हसद या जलन किसमे नहीं होती? वह चाहे अमीर हो या गरीब, बच्चा हो या बूढा, आदमी हो या औरत—सब एक-दूसरे से जलते हैं और दूसरों की निन्दा करने में मजा लेते हैं और दूसरों की निन्दा करने में जितना मजा है उतना कहने में नहीं है। मुझे तो आस-पास को देखकर और सुनकर यह लगता है कि दुनिया इस पर जीती है और इसमें ही मजा है। आमतौर पर यह पाठ पढ़ाया जाता है कि पर-निन्दा बुरी है। इस तरह तो हर चीज, जिसमे मज़ा है, बुरी है। इसे पर निन्दा भी क्या कहा जाए, निन्दा तो हमेशा पर की या दूसरे की होती है। अगर इससे परहेज किया जाता है तो मन पर एक तरह का बोझ बन जाती है जिसे उतारना जीने के लिए लाज़मी है। यह उसी तरह का है जिस तरह प्रेशर-कुकर की भाप को अगर बाहर निकलने नहीं दिया जाता तो वह फट सकता है।

मैं तो बचपन से दूसरों की निन्दा सुनता और करता आया हूं, सुनता अधिक रहा हूं और करता कम। यह शायद इसलिए कि इसकी कला को सुनने से इतना नही साधा जा सकता जितना करने से साधा जा सकता है।

इसे पूरी तरह [illegible] नहीं पाया है। इसे सुनने से इतना तो समझ मे आ गया है कि इसके करने के अनेक ढग हैं। इसे कभी दूसरो को छोटा करने या दिखाने म किया जाता है तो कभी चुगली करने या खाने मे। कभी यह किसी पर फबती कसने का ढग अपनाती है, तो कभी मजाक उडाने का। कभी यह किसी की सूरत को लेकर की जाती है तो कभी सीरत को लेकर। औरत और दौलत नि दा के आम विषय हैं। इन्हें निभाने के ढग अलग-अलग हैं। इसी तरह नि दा का ढग औरतो का अपना है, मरदो का अपना, जवानो का अपना है, बूढा का अपना, शहरियो का अपना है, देहातिया का अपना, गरीबा का अपना है, अमीरो का अपना, साहित्यकारो का अपना है और दुकानदारो का अपना। नि दा करने के न केवल ढग अलग अलग हैं, चौपाल भी अलग-अलग हैं। गाव मे चौपाल कभी पेड की छाया के नीचे लगती है तो कभी धूप मे चबूतरे पर। इस तरह शहर मे कभी यह बैठक मे लगती है तो कभी कॉफी हाउस मे। हर नि दा अपने ढग को उसी तरह खुद चुनती है जिस तरह हर कविता या कहानी अपन अन्दाज को। इसमें मजा भी पकवानो के समान तरह-तरह का है।

इसका मजा कही हवा मे न उड जाए, इसलिए कुछ नमूने पेश हैं। एक गाव मे औरतो की चौपाल बेरी के पेड के नीचे लगी है और नि दा चुगली चल रही है। बात पण्डित सन्तराम पुजारी की हो रही है और एक बूढी औरत एक जवान लडकी का किस्सा लहक-लहककर सुना रही है। वह स तराम की नकल उतारकर नाक से आवाज निकालकर इस तरह चटकारे ले रही है— रक्खी, तू मेरा काम कर दे और मैं तुम्हें नया सूट सिलवा दूगा। इस पण्डित का पाखण्ड देखो। वह दूर से दुर दुर करना शुरू कर देता है और उसका काम । उसकी छूत छात पानी और रोटी तक ही है। वह घास क तिनके से हर चीज शुद्ध कर लेता है।' इस तरह स तराम की नि दा करने का ढग देहाती है जो बेबाक है। इससे उल्टा शहरी ढग है जो दो जवान लडकियो का है। रीता—"अपरा भी कितनी बदकिस्मत है कि उसका एक भी लडका दोस्त नहीं है। क्या हुआ अपरा की सूरत ऐसी-वैसी है सीरत तो इतनी मीठी है ? सोना को देखो वह हर महीने एक नये ब्वाय फ्रेंड के साथ होती है। यह तो तितली है जो हर फूल पर बैठना चाहती है।' इसी तरह सडक पर सैर करते करते एक बूढा दूसरे बूढे स कह रहा है— 'देखा, दौलतराम हर साल नया सूट बनवाता है। क्या न बनवाए, एक जवान लडकी के चगुल म फस गया है।'

कुछ साहित्यकार आपस मे एक सफल लेखक की इस तरह नि दा कर

रहे होते हैं—"एक शादी से औसत लेखक बनना भी कठिन है, दो से थोड़ा आगे बढ़ाया जा सकता है, लेकिन सफल लेखक बनने के लिए तीन शादियां और अनेकों से सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं। मैंने भी यह सब कुछ किया है और अपनी आत्मकथा में इनकी सूची भी दे रखी है।" कॉफी का दूसरा कप आने पर निंदा भी गरमाने लगती है, लेकिन सिगरेट के धुए के साथ यह हवा में उड़ने लगती है। अगर एक साहित्यकार की बीवी का सम्बन्ध दूसरे साहित्यकार से जोड़ा जाता है तो इसे खुलापन कहा जाता है। अगर इसे पेपर की बात कहकर टोका जाता है तो टोकने वाले को दकियानूसी ठहराया जाता है। क्या इस तरह के सम्बन्धों के सबूत भी होते हैं? क्या यह कचहरी है जहां गवाहों को पेश करना होता है? यह तो कॉफी-हाउस है, साहित्यकारों की चौपाल है जहां सब कुछ मन बहलाने के लिए चलता है—झूठ भी और सच भी। क्या आधा झूठ भी और आधा सच भी बिना मसाला दिए निंदा में रस आ सकता है?

अगर गांव की औरतों की चौपाल पेड़ के नीचे, चबूतरे पर या पनघट पर लगती है तो शहर में अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक यह क्लब में, मन्दिर में या ठाकुरद्वारे में लगती है। दोपहर के बाद घर के काम काज से फुरसत पाकर औरतें मन्दिर में जमा होने लगती हैं जहां पड़ोसियों और रिश्तेदारों की निंदा का कीर्तन होने लगता है और कीर्तन के लिए इससे अधिक पवित्र जगह कहां मिल सकती है? 'शान्ति, तुम जानती हो कि रमा कितनी कंजूस है? उसके यहां मैंने दो बार आलू गोभी और आलू मटर भेजे हैं। आखिर पड़ोसिन है। उसने एक बार भी भाजी नहीं लौटाई है। क्या इसके घर में दाल भी नहीं पकती? आलू-गोभी और आलू मटर में मिकदार उस सब्जी की होती है। जो सस्ती हो। "मेरी कटोरियों का वह अब तक इस्तेमाल कर रही है।" औरत अपने पति का नाम तो भूल सकती है, लेकिन अपने बरतन नहीं भूल सकती। इसी तरह एक और बोल सुनने को मिलता है, सावित्री—"सुधा की शादी को तीन साल होने वाले हैं, लेकिन अभी तक इसका एक नतीजा भी नहीं निकला। कहीं कुछ गड़बड़ लगती है।" "मेरी सास ने तो शादी के एक साल बाद ही मुझे घूरना शुरू कर दिया था।" "मेरे वोह तीसरी सन्तान के हक में नहीं हैं, वरना वह कभी की पैदा हो गयी होती।" "सुधा तो हर महीने नयी साड़ी बदलती है। कहां से इतना पैसा आता है? कौन इसे देता है?" इस तरह औरत की नजर सबसे पहले कपड़े पर पड़ती है और बाद में सूरत पर जबकि निगाह सबसे पहले शक्ल पर पड़ती है।

क्लब में चौपाल रोशनी में नहीं लगती, अंधेरे में लगती है। यह

मरदो और औरतो की मिली-जुली होती है जहां चिरकुमार का भी सहन किया जाता है। यहां निंदा का अन्दाज और बयान और तरह का होता। मिसेज सरीन—"मिसेज भाटिया का मिस्टर पण्डित के यहा आना-जाना हद से बढ़ता जा रहा है। क्या तुमने नोटिस किया है?" "क्यो न बढ़े? मिस्टर भाटिया से आगे नही बढ़ना है?" "हलो, मिसज बजाज, इन गर-मियो मे किस पहाड पर जाना है!" "कैसे जाना हो सकता है? महगाई बहुत बढती जा रही है।" "जाने भी दो। क्या हर साल तुम्हारी जेब से पैसा जाता है? तुम्हारे तो इतने मेहरबान हैं जो बढिया होटल मे कमरे बुक कराने वाले हैं। तुम बड़ी लकी हो।" इस तरह की निन्दा मे अन्दाज अपनी तरह का है लेकिन रस का परिपाक तो जलन या हसद के स्थायी भाव से होता है।

अगर यह स्थायी भाव इतना व्यापक है कि इसे हर छोटे—बडे इन्सान म खोजा और पाया जा सकता है तो आज के भरत मुनि के लिए नए काव्य शास्त्र की रचना क्या आवश्यक नहीं हो जाती? क्या आज के रसवादी आलोचक के लिए इसका निरूपण लाजमी नहीं हो जाता? सत-युग आदि बीत चुके हैं, कलि-युग आ गया है। इसलिए इस दसवें रस या निन्दा रस स किस तरह और कब तक कतराया जा सकता है? •